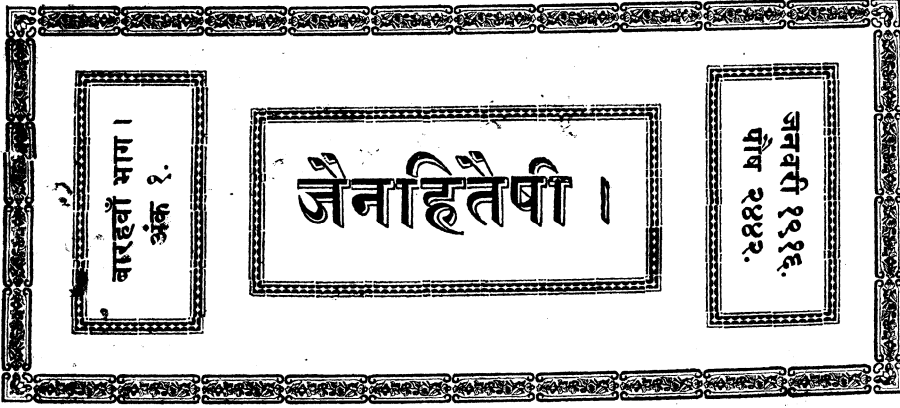


हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।



सारे ही संघ सनेहके सूतसौं, संयुत हों, न रहे कोउ द्वेषी ।
प्रेमसौं पाँलें स्वधर्म सभी, रहैं सत्यके साँचे स्वरूप-गवेषी ॥
वैर विरोध न हो मतभेदतैं, हों सबके सब बन्धु शुभैषी ।
भारतके हितको समझें संब, चाहत है यह जैनहितैषी ॥

महावीर भगवान् ।



(सोहनी)

धन्य तुम महावीर भगवान,
लिया पुण्य अवतार जगतका, करनेको कल्याण ॥ १ ॥
बिलबिलाट करते पशुकुलको, देख दयामयप्राण ।
परम अहिंसा-मय सुधर्मकी, डाली नीव महान ॥ २ ॥
ऊँच नीचके भेदभावका, बड़ा देख परिमाण ।
सिखलाया सबको स्वाभाविक, समता तत्त्व प्रधान ॥ ३ ॥
मिला समवसृतमें सुर नर पशु, सबको सम सम्मान ।
समता औ उदारताका यह, कैसा सुभग विधान ॥ ४ ॥
अन्धी श्रद्धाका ही जगमें, देख राज्य बलवान ।
कहा, “ न मानो विना युक्तिके, कोई वचन प्रमाण ” ॥ ५ ॥
जीव समर्थ स्वयं, करता है स्वतः भाग्यनिर्माण ।
यों कह स्वावलम्ब स्वाश्रयका, दिया सुफलप्रद ज्ञान ॥ ६ ॥
इन ही आदर्शोंके सम्मुख, रहनेसे सुखखान ।
भारतवासी एक समय थे, भाग्यवान गुणवान ॥ ७ ॥



देशहित ।

(लेखक, श्रीयुत बाबू खूबचन्दजी सोधिया बी. ए. एल. टी. ।)

भारतवर्षकी सभ्यता अत्यंत प्राचीन है। जिस समय पश्चिमी यूरोपकी सुसभ्य जातियाँ निरी असभ्य और जंगली दशामें थीं, उससमय भारतमें सभ्यताकी उन्नत-पताका फहरा रही थी। यद्यपि हम लोगोंको उपर्युक्त बातपर पूरा विश्वास था; परंतु हम दुनियाके सामने इस बातको प्रमाणित नहीं कर सकते थे। हर्षका विषय है कि आज-कलकी वैज्ञानिक खोजोंने इस कमीको पूरा कर दिया है। पुरातत्त्वविभागकी खोजों और हमारे इतिहास और पौराणिक साहित्यके मथनसे ऐसे ऐसे प्रमाण मिले हैं और मिल रहे हैं कि जिनके द्वारा इतिहासज्ञोंने सुबूत कर दिया है कि सभ्यताके उस जमानेमें, भारतमें ऐसा कोई व्यापार, विज्ञान और कला नहीं, जिसमें उन्नति न की गई हो। हम इस भारी और महत्त्वपूर्ण खोजके लिए भारत सरकार और यूरोपीय विद्वानोंके ऋणी हैं।

जरा हिंदुस्थानके नाना दर्शन, भिन्न भिन्न धर्म और संप्रदायोंकी ओर तो दृष्टि डालो। ये एक दूसरेसे कितने विभिन्न हैं? भिन्न भिन्न धर्मोंके होनेसे हमारा जातीय बल अवश्य घट गया है और देशमें आपसी फूट और लड़ाई झगड़ोंके कई कारणोंमेंसे एक यह

भी है; परंतु क्या इससे यह बात भी प्रमाणित नहीं होती है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता उस समय इस देशमें कितनी बढ़ी चढ़ी थी और प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी इच्छानुसार अपने विचारों और सिद्धांतोंको कायम कर सकता था? विचारस्वातंत्र्य, और वचनस्वातंत्र्य, जो कि वर्तमान सभ्यताके पाये समझे जाते हैं, हमारे देशमें उस समय अपनी चरम सीमातक पहुँच चुके थे।

प्रो० रामानन्द चटर्जीने अपनी 'Indian Shipping' नामक पुस्तकमें नाना प्रमाणोंसे यह बात भलीभाँति सुबूत की है कि नाविक विद्या और समुद्रप्रवासमें हमारे पूर्वज भलीभाँति दक्ष थे। बड़े बड़े व्यापारी और जंगी जहाज बनाना उन्हें भलीभाँति मालूम था। उक्त प्रोफेसर सा० ने धार्मिक साहित्यमेंसे भी कई सबल प्रमाण उक्त कथनकी पुष्टिमें दिये हैं। समुद्रप्रवासके विरोधियोंको उक्त पुस्तक अवश्य देखना चाहिए। अध्यापक महाशयने यह भी दिखाया है कि सिर्फ हमारा समुद्रीय व्यापार ही बहुत बढ़ा बढ़ा न था; परंतु हमें उपनिवेश बसानेके फायदे भी मालूम थे। जावा, सुमात्रा प्रभृति देशोंमें हिन्दू जातिकी वस्तियोंके भग्नांश आज भी

नजर आते हैं । अध्यापक प्रफुल्लचन्द्रराय महाशयने प्राचीन भारतके रासायनिक ज्ञान और प्रक्रियाओंका इतिहास लिखकर दिखाया है कि इस विषयमें भी हमारा ज्ञान उस समय बहुत चढ़ा बढ़ा था । अंकगणितके मूल तत्त्व, संख्यालेखनकी दशमलवप्रणाली—जिसके बिना गणित शास्त्रमें कोई उन्नति होना संभव ही न थी—भारतमें ही प्रचलित थी और यहींसे दूसरे देशोंको गई । हमारा मृत-प्राय आयुर्वेद आज भी हमारे पूर्वजोंकी कीर्तिको बढ़ा रहा है । सुश्रुत, चरक आदि ग्रंथोंसे परिचित मनुष्य दावेसे कह सकता है कि शरीरविच्छेदक्रिया (Surgery) में भी हमें खूब अभ्यास था । शिल्प, चित्र-विद्या और यंत्रविद्यामें भी हमारे यहाँ अच्छी उन्नति हो चुकी थी । पुरानी भारी भारी तोपें, बूँदीकी कटारें और अजंटाकी गुफाओंके चित्र इन सब कलाओंके मृतप्राय नमूने हैं । व्यापारके विषयमें इतना ही कहना बस होगा कि सत्रहवीं सदीके अंत तक स्वतः इंग्लैंड भी हमारे देशसे कपड़ा पाता था ।

सारांश यह है कि सभ्यताके विषयमें भारतवर्ष किसी समय दुनियाका गुरु था । हमें इस बातका अभिमान अवश्य होना चाहिए; परंतु क्या सिर्फ इतना होनेसे ही हम देशहितैषी कहे जा सकेंगे ? नहीं नहीं, यदि हमारे देशाभिमानकी 'इतिश्री' सिर्फ घमंडमें ही हो गई, तो जानना चाहिए कि हमने गुणके

बदले अवगुण मोल लिया । ऐसा क्षुद्र देशाभिमान जिसके कारण हम आलस्यमें मग्न हो जायँ और स्वप्नकी दशाको सत्य समझने लगेँ नितान्त अनिष्टकर होगा । देशमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जो सिर्फ इसी ऐंठमें अकड़े फिरते हैं कि किसी समय हम दुनियाके गुरु थे । ये लोग हमेशा निठले रहकर भी सोचते हैं कि हमारा दुख और दारिद्र्य इन्हीं विचारोंके भरोसे मिट जायगा । भला इन बेचारोंकी मूर्खताका भी कुछ ठिकाना है ! इनकी दशा ठीक उसी मनुष्यकी नाई है जो शराबके नशेमें मतवाला होकर पासमें लँगोटी न होते हुए भी अपनेको दुनियाका राजा समझता है । भाइयो, स्वप्नकी, दशाको त्यागकर जरा वर्तमानको भी देखो ।

वर्तमानमें हमारी अवस्था बहुत ही खराब है । हमारे मानसिक, नैतिक और शारीरिक बलका अधःपतन हो चुका है । देशमें गरीबी इतनी बढ़ गई है कि सौमें से ७९ मनुष्योंको दो बार भोजन भी मिलना कठिन है । फ़िज़ूल खर्चीने हमारा गला ऐसा फँसाया है कि हममें उठनेकी भी ताकत नहीं है । शौकीनी और तड़क भड़क इतनी बढ़ गई है कि ऋण लेकर भी हमें इनको पूरा करना पड़ता है । साहसने हमसे पूर्ण विदा ले ली है । व्यापारमें नुकसान ही पड़ेगा और नौकरी सरीखा उत्तम व्यवसाय दूसरा नहीं है, इन नीच विचारोंने हमारे हृदयमें अधिकार कर लिया है । हानिकारक रीति रिवाजों-

के हम दास हैं। हम भलीभाँति जानते हैं कि ये रीति रिवाज हमें नुकसान पहुँचा रहे हैं; परंतु हममें उनको दूर करनेकी हिम्मत ही नहीं है। हमारा सामाजिक संगठन बिल्कुल सड़ गया है। दुर्व्यसनके पंजेमें हम इतने फँसे हैं कि हमारे नवयुवक भी लकड़ीके सहारे बिना नहीं चल सकते। स्त्रियोंको तो हमने पशुओंसे भी नीच बना रखा है। अज्ञानके अंधकारमें हम डूबे हुए हैं। जिस तरफ़ देखो दुर्दशा मुँह बाये खड़ी दीखती है। ऐसी हालतमें हमारा क्या कर्तव्य है ?

सुखसे दुःख और दुःखसे सुख यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है। इतिहास भी इस बातका साक्षी है कि किसी भी जातिके सब दिन सरीखे नहीं हो सकते। उन्नतिके बाद अवनति और अवनतिके पश्चात् उन्नति, यह सृष्टिका नियम है। जिस अदृष्टने हमें आज तक जिलाया है उसी अदृष्टके भरोसे, उसी भविष्यकी आशाके भरोसे हमें कर्तव्य करते रहना चाहिए। सघन जंगलमें रास्ता भूले हुए मनुष्यका एक मात्र सहारा आशा ही है। इस समय निराशा और निरुत्साहकी हवा हमें अपने हृदयमें नहीं लगने देनी चाहिए। कई आलसी मनुष्य समयके फेरको ही रोते हैं और भविष्यको निराशामय बताते हैं। यथार्थमें ये लोग जैसा देख रहे हैं वैसा ही बता रहे हैं। निरुद्योगी मनुष्योंने कब कब आशाका सहारा लिया है ?

इस समय हमारी स्थिति सच पूछो तो बहुत अच्छी है। कुछ समयसे हम विचार भी करने लगे हैं। शिक्षाप्रचार और व्यापारमें भी थोड़ा बहुत उद्योग होने लगा है। सबसे बड़ी भारी फ़ायदेकी बात तो यह है कि हम अँगरेज जातिके शासनमें हैं। परमात्माकी बड़ी भारी कृपा है कि हम दुनियाकी सबसे बड़ी चढ़ी जातिके शासनमें हैं। भारत और इंग्लैंडका संबंध—इससे बढ़कर सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। हमारा कर्तव्य है कि अँगरेजोंके सहवास और शिक्षामें रहकर अपनेको सुधारें। यदि हमने इस समय भी उन्नति न की, तो फिर ऐसा मौका न मिलेगा। हमें यह भलीभाँति याद रखना चाहिए कि ब्रिटिशकी जड़ न्याय है। अँगरेजोंका उद्देश्य है कि वे हमारी गिरी हुई जातिको उबारेंगे। ब्रिटिश राज्यनीतिज्ञ भली भाँति जानते हैं कि इंग्लैंड द्वारा हिन्दुस्तानका उत्थान, यह बात दुनियाके इतिहासमें सोनेके अक्षरोंमें लिखी जायगी। हमें राज्यप्रबन्धकी छोटी छोटी बातों पर अधिक ध्यान न देना चाहिए। ब्रिटिश जातिके हम ऋणी हैं। हमें इस समय शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए और ब्रिटिश जातिके गुणोंको सीखना चाहिए।

देशाभिमानका मतलब अपने गिरे हुए जीवनका पुनर्संस्कार है, अपने बल—मानसिक शारीरिक और नैतिक—को बढ़ाना है, समाज-संस्कार, शिक्षाविस्तार, राजकीय आन्दोलन,

मातृभाषाका उद्धार और शिल्प व्यवसाय इन सबको एक साथ बढ़ाना है ! समाजका संगठन ही ऐसा होता है कि बिना चारों तरफ संस्कार किये उसकी दशा अच्छी नहीं होसकती । जिस प्रकार यदि तुम्हारे शरीरका एक अंग भी अस्वस्थ हो तो सारा शरीर अस्वस्थ होजाता है, उसी भाँति हमें याद रखना होगा कि हमारी राजनैतिक उन्नति, बिना समाजसुधार, शिक्षाविस्तार इत्यादि हुए बिना नहीं होसकती । तथा हमारी आर्थिक उन्नति भी इसी भाँति बिना शिक्षा और समाजसंस्कारके होना संभव नहीं । सारांश यह है कि साथ साथ हमें चारों तरफ उन्नति करनी होगी । हम लोगोंमें जो अकसर झगड़े हो जाया करते हैं और आपसमें सहानुभूति नहीं रहती, उसका कारण यही है कि हम समाजकी बनावट और उसके नियमोंसे अनभिज्ञ हैं । हम जानते हैं कि हमारी अवनतिका कारण सिर्फ एक ही है और उसीका योग्य उपचार करनेसे हमारी उन्नति हो सकेगी ।

यह बात सर्वमान्य है कि समाजका उत्थान कोई साधारण काम नहीं है—कोटि कोटि मनुष्योंको दुखके गहरे दलदलसे निकालकर सुखी बना देना, यह कोई एक दो अथवा दस मनुष्योंका काम नहीं है । इसके लिए हमें सम्मिलित शक्तिसे कार्य लेना पड़ेगा । प्रत्येक व्यक्तिको साथ साथ दो काम करना होंगे—पहला तो स्वयं अपनी उन्नति

आँर इसीके साथ ही दूसरोंकी उन्नतिका उपाय । यदि कोई चाहे कि बिना एक दूसरेकी सहायता लिये इतना भारी कार्य सम्पादन किया जासकेगा तो यह नितान्त भ्रम ही है । इस लिए परस्पर भ्रातृभावको बढ़ाकर सम्मिलित शक्ति द्वारा कार्य करो । जो लोग अन्यान्य क्षेत्रोंमें काम कर रहे हैं, उनसे सहानुभूति रखो और यथाशक्ति उनके कार्यमें सहायता दो । याद रखो, गिरी-हुई जातिको सुधार लेना सहज बात नहीं है । वर्षों और शताब्दियों तक प्रयत्न करना होगा । निराशाखी पिशाच बार बार आकर तुम्हारे कानोंमें मंत्र फूँकेगा । उससे सावधान रहो और उसे पास भी न फटकने दो ।

हम लोगोंमें बड़ा भारी दोष यह है कि हम एक दूसरेके कार्यसे सहानुभूति नहीं दिखा सकते । मान लीजिए कि कोई व्यक्ति समाजसुधारके काममें प्रवृत्त है और दूसरा शिक्षाके क्षेत्रमें काम कर रहा है । अकसर देखनेमें आता है कि ऐसे दो व्यक्तियोंमें आपसमें बिल्कुल सहानुभूति नहीं है—एक दूसरेकी निन्दा करते हैं । होना तो चाहिए यह कि एक दूसरेको यथासंभव सहायता दें; क्योंकि दोनोंके कार्योंका अंतिम उद्देश्य एक ही है । उपर्युक्त उदाहरण हजारोंमेंसे सिर्फ एक ही है । ऐसे बीसों दृष्टान्त आपको प्रतिदिन मिलेंगे । यही कारण है कि हम सम्मिलित शक्तिका उपयोग करनेसे वञ्चित रहते हैं और इसी लिए हमारी कई

उपयोगी संस्थायें या तो नष्ट होजाती हैं अथवा योग्य फल नहीं दे सकतीं ।

उपर्युक्त दोषका कारण यह विदित होता है कि हमारा मानसिक क्षेत्र बहुत ही संकुचित है । हम इस बातका विचार ही नहीं कर सकते कि अमुक कार्यके लिए कितने साधनोंकी आवश्यकता है । कूपमंडूकवत् हम यही समझते हैं कि जो कुछ विचार हमारे हैं वे ही सत्य हैं । विभिन्न विचारके आदमियोंसे हम तत्काल ही लड़ पड़ते हैं । सारी उच्च शिक्षाका मूल मंत्र यही है कि विचारोंकी भिन्नताके कारण हमें झगड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं; उल्टा हमें प्रसन्न होना चाहिए । क्योंकि हमने कमसे कम इतना तो जान लिया कि अमुक विषय पर दूसरे मनुष्यके विचार क्या हैं । विचारोंको उन्नत बनानेकी चेष्टा करना हर एक व्यक्तिका कर्तव्य है ।

देशाभिमानका मतलब सिर्फ अपने गुणोंको देखना ही नहीं, सिर्फ अपनी उन्नत

अवस्थाका ढोल पीटते फिरना ही नहीं; परंतु अपने अवगुणोंका परिष्कार करना भी है । ऐसी कोई चीज़ नहीं जिसमें गुण और दोष-दोनों विद्यमान न हों; चाहे वह कितनी ही उत्तम क्यों न हो । हमारी सामाजिक अवस्थाओंका परिष्कार होना आवश्यक है । हमारे कई जातीय दोष इतने खराब हैं कि जबतक वे दूर न किये जायँगे उन्नति हो ही नहीं सकती । इनमें पहला और सबसे भारी तो अकर्मण्यता है । इस राक्षसने हमारा ऐसा पीछा किया है कि राजासे लेकर रंक तक इसके फँदेमें फँसे हुए हैं । भाग्यको हमने इतना प्रबल मान रक्खा है कि मानों हम बिल्कुल मुर्दा हों । हम यह नहीं जानते हैं कि भाग्य हमारे ही द्वारा बनाया गया है । जिस प्रकार चितेरा अपनी इच्छानुसार खिलौने बना सकता है और बने हुओंको मिटा सकता है, उसी तरह हम भी अपने भाग्यको बुरा या अच्छा बना सकते हैं ।

उन लोगोंको ईर्ष्यासे मत देखो जो तुमसे बड़े हुए हैं । बड़ी बड़ी पदवियाँ, विशाल इमारतें, सुन्दर बाग बगीचे, सुनहरे रुपहले रथ, बड़े बड़े हाथी घोड़े ये सब क्या हैं ? ये किसको लुभाते हैं ? क्या उसको जिसके पास मौजूद हैं ? नहीं, किंतु उसको जिसके पास नहीं हैं । जिसके ये चीजें हैं, जो इनको नित्यप्रति काममें लाता है उसके लिए ये सस्ती और साधारण चीजें हैं । इनके कारण उसे किसी प्रकारका विशेष आनन्द नहीं होता । जैसा कुछ भाव उस मनुष्यका होता है जिसके पास इतने बहुमूल्य पदार्थ नहीं है वैसा ही भाव उसका होता है । जैसी वेपरवाईसे मैं और आप अपने अपने झोपड़ोंमें चले जाते हैं वैसी ही वेपरवाईसे वह अपनी कोठियों और महलोंमें जाता है । उनमें जो नक्काशी और चित्रकारीका काम हो रहा है अथवा वहाँ जो बढ़िया बढ़िया सामान रक्खा हुआ है उसकी तरफ उसका ध्यान भी नहीं जाता । यह ठीक ही है । इन चीजोंकी तरफ क्या ध्यान जायगा जब मनुष्योंकी दृष्टि उन पदार्थोंपर भी नहीं पड़ती जो सुन्दरतामें अपना सानी नहीं रखतीं । इस जगतसे बढ़कर, सूर्य चन्द्रमा और तारागणसे बढ़कर, क्या कोई चीज़ सुन्दर, मनोहर और विशाल हो सकती है ? कदापि नहीं । फिर बतलाइए कितने मनुष्योंकी दृष्टि इनपर पड़ती है और कितने इनपर विचार करते हैं ।

(पडीसन)

भावना और सामाजिकता रहस्य ।

अनुवादक, श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा ।

दान, शील और तपके संबंधमें हमने विचार किया, और यह भी देखा कि जीव-नके साथमें इनका कितना गाढ़ा संबंध है। इन तीनों तत्त्वोंको प्रत्येक मनुष्य बहुत सर-लतासे समझ सकता है और आचरणमें भी ला सकता है। इनका पालन न करनेवाली व्यक्ति नीरोग निर्दोष और पवित्र नहीं बन सकती और न समाजके लिए उपयोगी ही बन सकती है। इतना ही नहीं बल्कि भावी जीवनमें सुखी होनेकी आशा भी उसे छोड़ देनी पड़ती है। परन्तु इन तीनोंसे भी विशेष महत्त्वके एक तत्त्वका हमें और विचार करना है कि जिसका प्रत्येक मनुष्यके अन्दर होना कठिन है। यह तत्त्व भावना है। यह मन और बुद्धिसे संबंध रखता है। इसके रहस्यको समझनेके लिए मानसशास्त्र (Psychology) के अभ्यासकी और तीव्र कल्पनाशक्ति-की आवश्यकता है, और आगे बढ़नेपर उच्च मनोबलकी भी जरूरत पड़ती है। इसी लिए इस भावनाके विस्तृत क्षेत्रमें बहुत ही भाग्यवान् पुरुष क्रीड़ा कर सकते हैं। दान, शील और तप, इन तीनोंको पालन कर चुकने-वाला मनुष्य—इस भव या परभवमें इस मंजिलके मार्ग पर बहुत कुछ चल चुक-नेवाला मनुष्य—‘भावना’के क्षेत्रमें प्रवेश-

कर सकता है। भावनाका राज्य स्थूल पृथ्वी-पर नहीं; किन्तु सूक्ष्म पृथ्वीपर—मानसिक जग-तमें—है, जहाँ मनुष्यको—पथिकको—एकाकी निस्सहाय होकर विचरना पड़ता है और इसही हेतुसे यह पथ दुर्गम जान पड़ता है। यह पथ चाहे विकट हो या सरल; परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि यह मार्ग बड़ा ही आनन्ददायक है और आत्माको—जो कि मन और बुद्धिसे परे है—पानेकी अन्तिम सीढ़ी है। ‘भावना’ तत्त्व कैसा गहन और विशाल है, इसका बहुत कुछ अनुमान, सामान्यतया इसके जो अर्थ होते हैं उनसे किया जा सकता है। ध्यान, मनन, चिन्तवन, शोधन, सूक्ष्मगवेषण, पूर्व स्मरण, प्रत्यक्षज्ञान (Perception or cognition) आदि इसके अर्थ हैं। ऐसे अनेक कार्योंके करनेवाले तत्त्वका विवेचन थोड़ेमें कर जाना असम्भव है और इस Science तथा Metaphysics के समान गहन विषयसे संबंध रखनेवाले विषयमें अल्पज्ञोंका दम मारना भी अनु-चित है। इस लिए यहाँ केवल इस विषयकी गहनता—जिसको जैतियोंका अधिकांश भाग नहीं जानता—कुछ अंशोंमें, बताई है। अब इस भावनाकी अंगभूत धार्मिक क्रिया-ओंके संबंधमें कुछ कहा जाता है।

प्रत्येक मनुष्यको, मैत्री भावना, करुणा भावना, प्रमोद भावना और माध्यस्थ्य भावना सेवन करनेकी विधिसे परिचय होना चाहिए और तदनुसार आचरण भी करना चाहिए। समान गुण और समान विचार रखनेवाले मनुष्योंके साथ मैत्री भावना, अज्ञानी और दुखीकी तरफ करुणा भावना, अपनेसे विशेष ज्ञान-गुण-शक्ति आदि धारियोंमें प्रमोद भावना और अधम मनुष्योंकी तरफ माध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिए।

समान गुण और विचारके धारकोंसे मित्रता रखनेसे पारस्परिक विचार विशेष विकसित होते हैं और दोनोंकी आत्मिक शक्तियाँ वृद्धिको प्राप्त होती रहती हैं।

दुखी और अज्ञानियोंके प्रति करुणा-भाव रखनेसे उनके दुःख और अज्ञान नष्ट करनेमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा होती है। अन्तमें परिणाम यह होता है कि न्यूनाधिक रूपसे उन दुखियोंके दुःख और अज्ञानियोंके अज्ञान मिटने लग जाते हैं, उनकी आत्मिक उत्क्रान्तिका मार्ग भी साफ हो जाता है और इस भावना और सहायताको करनेवाला मनुष्य भी उन्नत होता है।

विशेष ज्ञान-गुण-शक्ति आदिके धारण-करनेवालोंसे ईर्ष्या न कर उनकी उत्क्रान्तिको देख, प्रमोद-उल्लास-संतोषका अनुभव करना और उसकी अधिकाधिक उन्नतिकी इच्छा करना साधारण बात नहीं है। अतिशय उदार हृदयके बिना यह नहीं हो सकती।

इस गुणसे-इस भावनासे-भावना भानेवाले मनुष्यमें भी उन गुणोंका अंश प्रविष्ट होता है और वह भी वैसा ही बन जाता है।

अधम जनोंकी नीच प्रवृत्ति देखकर माध्यस्थ्य भावना भाना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि न उनकी प्रवृत्तियोंसे प्रमुदित होना चाहिए और न द्वेष ही करना चाहिए। सम्प्रति इस भावनाका बहुत ही बुरा अर्थ किया जाता है। निन्दा या स्तुतिके सिवा जैसे संसारमें अन्य कोई तत्त्व जीवित ही न हो, इस भाँतिसे लोग धर्मके बहाने यह कहकर चुप होते दिखाई देते हैं कि जनसंहारक प्रवृत्तियोंके आचरण करनेवालोंके प्रति क्षमा दिखाकर 'माध्यस्थ्य' भावनाका चिन्तन करना चाहिए। इस समझने लोगोंको बहुत हानि पहुँचाई है। यदि ऐसी नपुंसकता ही धर्म है, तो फिर करुणाभावना बतानेकी क्या आवश्यकता थी? अपराधी या पापी भी एक मनुष्य है-आत्मा है। उसको अनिष्ट आचरणोंमें प्रवृत्त देखकर उसपर बन्धु आत्माकी भाँति करुणा करना चाहिए, जिससे उसका अन्तरात्मा सीधे मार्गपर आ जावे। यदि सर्वथा उत्तम पथका पथिक नहीं बने तो भी वह मार्गकी भीषण भयङ्करतासे तो बहुत कुछ बच सकता है। मान लो कि यदि ऐसा न भी हुआ तो भी उससे होनेवाली हानिसे अन्य मनुष्योंको बचानेका प्रयत्न करना भी 'करुणा' का ही विषय है। इस प्रकारसे कृत कर्तव्यके द्वारा उस ही समय यदि मनुष्यको चाहे वह काल्पनिक हो या वास्तविक, कष्ट पहुँचे तो उसके

लिए मनमें हर्ष विषाद न कर उदासीन भावसे रहना, 'माध्यस्थ्य' भावना कहलाती है। माध्यस्थ्य भावनाका अनुयायी कभी यह चिन्तवन न करेगा कि पापी दुखी हो और न वह पापीको किसीकी शान्तिमें या उन्नतिमें ही बाधक देख सकेगा। इस विषयपर बहुतसी बातें विचारणीय हैं; किन्तु उनके लिए अभी अवकाश नहीं है।

भावनाकी निर्मलता और पुष्टिके लिए जैनशास्त्रोंने जो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध आदि क्रियायें बताई हैं उनके संबन्धमें अब हम कुछ व्यावहारिक बातोंका विचार करेंगे।

ये तीनों क्रियायें वास्तवमें बहुत महत्त्वकी और लाभप्रद हैं। इस बातको माने-विना तर्कशास्त्र, मानसशास्त्र और व्यवहार शास्त्रके वेत्ताओंका भी काम न चलेगा। इन तीनोंके संबन्धमें यहाँ केवल कुछ खास खास बातें ही बताई जायँगी। इनकी फिलासफी इतनी गहन है कि पूर्णतया विचार किया जाय तो इन पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। यह हमें अवश्य मानना पड़ेगा कि इस समय जो ग्रंथ प्राप्त हैं वे बुद्धिवादको तृप्त करनेके लिए काफी नहीं हैं।

आत्मा महान् कार्य सम्पादनके लिए, या अनन्त या असंख्य भवोंको मिटाने लिए मनुष्यशरीररूपी समर्थ शस्त्र प्राप्त करता है। यह शस्त्र किसी नियत समय तक ही रहनेवाला है, या यों कहिए कि अमुक समय तकका ही यह परवाना है। इस शस्त्रसे,

आत्मा नियत समयमें चाहे ऊटपटाँग या अनावश्यक्रीय कार्य करे, चाहे उन शत्रुओंको जो चिरकालसे संतप्त करते आये हैं, जड़से नाश कर दे। इसके द्वारा दोनों ही कार्य हो सकते हैं। कौनसा करना चाहिए और कौनसा नहीं, यह उसकी पसंदगी पर निर्भर है और इसी पसंदगी पर उसका सदाका दुःख या सुख आश्रित है।

इसी हेतुसे परदुःखभंजक महान् गुरुओंने 'अनर्थदण्डविरति' व्रतका उपदेश प्रत्येक शस्त्रधारी अर्थात् मनुष्यको दिया है। पैसके समान वस्तुयें, जो कि यहीं रहनेवाली हैं, या अन्नादि वस्तुयें, जो कुछ ही समय पीछे विष्ठाका रूप धारण करनेवाली हैं; इनकी प्राप्ति या उपभोगमें ही आत्मा इस शस्त्रका हर समय उपयोग न करता रहे और क्रोध, मान, माया, लोभके—जो कि एक क्षण मात्रके लिए ही सुखोत्पादक हैं—उत्पन्न करने या इनको स्थायी बनानेके प्रयत्नमें ही इस शस्त्रको काममें न लाता रहे, इसी लिए विश्वगुरुओंने 'अनर्थदण्डविरति' व्रतका उपदेश दिया है। इसके कारण अपने हितको नानेवाले पुरुष अपने शस्त्रका विशेष उत्तम या चिरस्थायी लाभदायक कार्यके करनेमें उपयोग करने लगते हैं। इस सब प्रकारके निष्प्रयोजन कार्यों, शब्दों, और विचारोंसे पृथक् रहनेकी आज्ञा करनेवाले व्रतको पूर्णतया समझने या समझानेका शायद ही कहीं प्रयत्न किया जाता

हो । जो जीवात्मा इस व्रतको समझनेमें भाग्यशाली हुआ होगा, वह तो बाइबिल-वर्णित उड़ाऊ (अपव्ययी) लड़केकी भाँति यों ही कहेगा कि:—“मेरे पिताके बहुतसे बंगले हैं; मैं वहाँ जाऊँगा, अब विशेष समय तक क्षुधाकी पीडा न सहूँगा।” उड़ाऊ होनेसे—व्यर्थ कार्योंमें पैसा व्यय करनेसे—जिसे अन्न भी मिलना कठिन हो गया था, उस लड़केको अन्तमें जिस भाँति बापके घरकी आवश्यकता हुई और वहीं उसने ‘बंगले’ देखे; उस ही भाँतिसे जो मनुष्य अपने शरीररूपी हथियारका, तथा समय, बुद्धि और धन आदिका दुरुपयोग करता है उसे भी अन्तमें ‘शक्तिहीन’ ‘साधनहीन’ बन अपने पिताके गृहकी ओर—परमेश्वरके स्मरणकी ओर—‘आत्मभावनाकी ओर’ फिरनेकी आवश्यकता पड़ती है । किन्तु यह आवश्यकता बहुत देरीसे होती है, इस कारण सार्थक नहीं होती है; क्योंकि पितृगृह या आत्मचिन्तवन तक जा पहुँचनेकी अब उसमें शक्ति ही नहीं रहती है । इधर उधरकी दौड़ धूपमें व्यर्थ ही अपनी शक्तिके नाश कर देनेसे अब वह दूरवर्ती ‘बापके घर’ या ‘स्वस्वरूपमें’—जिसमें सहस्रों महल और आनन्दागार बने हुए हैं—किस भाँतिसे पहुँच सकता है ?

इसी हेतु महान्गुरु श्रीमहावीरने प्रथम ही शक्तिका दुरुपयोग न करनेके लिए ‘अनर्थदण्डविरति’ नामी महामंत्र सिखाया है । उसके पश्चात् उन्होंने संचित शक्तिके

द्वारा अपने पिताके घरमें—स्वाध्यायमें—जानेका मंत्र बताया है जिसे ‘सामायिक व्रत’ कहते हैं ।

यहाँ मुझे स्पष्ट करके कहना चाहिए कि दूरसे सामायिक एक सामान्य घर सा दिखाई देता है, तो भी यदि यों कहा जाय कि उसमें सहस्रों बंगले समा रहे हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी, न्यूनोक्ति भले ही हो जाय । सामायिकमें जब सारी तर्कनाओंको त्याग कर कायोत्सर्ग किया जाता है, उस समय ऐसे आनन्दभवन दिखाई देते हैं जिनका वर्णन करना लेखनी या जिह्वाकी शक्तिसे परे है । दिग्वावेके हेतु, अंधश्रद्धाके लिए या अंगीकृत नियम पालनेके हेतु जो सामायिक करते हैं मेरी समझमें वे इस छोटसे घरमें छिपे हुए सहस्रों सुन्दर बंगले कदापि न देख सकेंगे । जिन्होंने अपने मन वचन और कायाकी शक्तिको व्यर्थ न उड़ा देकर उसे अपने कोषमें संचित रक्खा होगा उन्हें सामायिक सचमुच ही आनन्दका सागर जान पड़ेगा ।

प्रथम सोपान परसे छलँग मारकर अन्तिम सोपान पर पहुँच जानेकी इच्छा रखनेवाले लोग बड़ी भारी भूल करते हैं । उदाहरणार्थ किसी ऐसे मनुष्यको लो, जिसने निरन्तर विषयसेवनमें रत रहकर अपना शरीर निःसत्व बना लिया है, जिसने प्रत्येकका बुरा चिन्तवन और तन्दुल मच्छकी भाँति अहर्निशि कुतर्क करते रहनेसे अपने मनको

चंचल और रोगी बना लिया है, जिसने यद्वा तद्वा, व्यर्थ बोल बोलकर जिह्वाको निकम्मी बनलिया है, या यों समझो कि जिसने अपने इन तीनों शस्त्रोंपर जंग चढ़ा लिया है, ऐमा मनुष्य (यथाशक्ति आचरित आठ व्रतों द्वारा) उस जंगको साफ किये विना, सामायिक—जिसमें मन वचन और कायकी जागृति अथवा उग्र शक्तिकी आवश्यकता पड़ती है—करने बैठा है। यह प्रायः लोग जानते हैं कि सामायिकमें कायोत्सर्ग करना पड़ता है। उसने भी कायोत्सर्ग किया है। यह भी ठीक है कि उसके कायोत्सर्गके बाह्य कृत्य सब यथाविधि दिखाई देते हैं। वह पद्मासन लगाकर बायें हाथकी हथेली पर दाहिने हाथकी हथेली टेक नासाग्रदृष्टि लगाये बैठा है। किन्तु इस समय क्या वास्तवमें वह चौरासी लक्ष जीवयोनिसे क्षमा करने करानेका ध्यान कर रहा है? लोकका स्वरूप और तीर्थङ्करोंके प्रकाशकी कल्पना करनेकी क्या उसमें शक्ति है? और क्या वह ऐसा ही कर भी रहा है? उससे पूछो तो सही कि इस समय वह किसी चन्द्रवदनीका मधुर शब्द तो नहीं सुन रहा है? या तोड़ोंसे भरी हुई तिजोरी तो नहीं देख रहा है? अथवा अपना नये खरीदे हुए घरका दृश्य तो नहीं देख रहा है? जो अनर्थदण्डविरति व्रतका पालन न करनेसे—उस व्रतको नहीं समझनेसे—चंचल और रुग्ण हो रहा है वह चित्त कदापि आज्ञानुसार न चलेगा। वह तो उसी

स्वादको चखने जायगा जिसका वह हर समय आस्वादन करता रहा है। हम ऐसे चल चित्त-वाले व्यक्तिको बे-लगाम घोड़ेका सवार कहेंगे। यह तो हमने अभ्यन्तर प्रवृत्तिका विचार किया; किन्तु क्या बाह्य कायोत्सर्गकी क्रिया भी वह ठीक कर रहा है? कायाको पीडित कर पाषाणवत् बनानेके लिए और सब प्रकारके प्रमादोंको दूर करनेके लिए, जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसके किसी एक आसनको धारण करने पर भी क्या वह मूर्तिवत् बैठ सकता है? विषयसेवन या अन्य निकम्मे कार्योंके द्वारा जिसने अपनी शारीरिक स्थितिका नाश कर दिया है वह कदापि मूर्तिवत् न बैठ सकेगा। क्षणमें पैर दुखने लगेंगे, कमरमें तकलीफ होगी और क्षणमें दम घुटने लगेगा। कभी खाँसी चलने लगेगी, कभी डकार आवेगी और कभी छींक होगी। ये सब रुक ही कैसे सकते हैं जब कि वह उनको अपने अधिकारमें रखनेवाली शक्तिका पहलेहीसे नाश कर चुका है? क्या बच्चा कभी सहस्रों रुपयोंके व्यापारका कार्य चला सकता है?

तब स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामायिक करनेका अधिकारी कौन है? यह बात मैं मानता हूँ कि मैं कोई बड़ा भारी ज्ञानी नहीं, न मैं मानस शास्त्रका ही पारगामी हूँ जिससे इसके लिए कोई नियम निर्माण कर दूँ। मैं ज्यादासे ज्यादा यह कर सकता हूँ कि सर्व साधारणके सामने अपने विचारोंको प्रगट कर दूँ। मेरे मतानुसार तो अनर्थ-

दण्डविरमण व्रतके पालक ही शुद्ध सामायिक कर सकत हैं। मैं न किसीका सामायिक पाठका बोलना बंद करना चाहता हूँ और न जो कोई दो घड़ीके लिए एकान्तमें बैठकर आरम्भ समारम्भका परित्याग करता है उसका विरोधी हूँ। मेरा तो केवल इतना ही कहना है कि जिसकी शक्ति और शस्त्र परतंत्रताकी बेड़ीमें जकड़े हुए हैं वह आत्मा सामायिकके सदृश क्रियाकारक Active (न कि निष्क्रिय Passive) व्रतमें कैसे प्रवेश कर सकता है? जिस बन्दीके हाथ पैर हथकड़ियों और बेड़ियोंसे जकड़े हुए हैं वह चाहे तो बन्दी बनाने-वालेको मुँहसे गालियाँ दे सकता है; किन्तु तलवार चलानेका कार्य किसी भाँति नहीं कर सकता। ध्यान, कायोत्सर्ग और सामायिक इन क्रियाओंमें बड़े भारी पुरुषार्थकी आवश्यकता है। ये Active क्रियायें हैं। अतः जिस आत्माकी शक्ति चारों ओर विभक्त हो गई है, वह कदापि इनको आचरणमें नहीं ला सकता। तथापि जिनको सामायिक करनेकी इच्छा होती है उनसे यह कदापि मत कहो कि 'तुम इसे मत करो,' किन्तु सामायिक क्रियारूपी 'बोनी' करनेके पहले, आवश्यक भूमिशुद्धिकी प्राप्तिके लिए यथाशक्ति पाँच व्रतोंका अर्थात् हिंसा, झूठ, कुशील, चोरी और परिग्रहके त्यागका और अनर्थदण्डविरमण व्रतका अँगीकार कराओ और छोटेसे लेकर बड़े तक सब कार्योंमें उनका आचरण करना सिखाओ। इससे उनका हृदय

शुद्ध होगा और वे सामायिक करनेके योग्य बनेंगे। इतना ही करके मत ठहरो; किन्तु आजकल अज्ञानतासे लोगोंको व्रतपालन करना अशक्य और भयंकर जान पड़ता है, अतः उनको ज्ञान कराके इस व्यर्थ खयालको उनके मस्तकमेंसे निकलवाओ, उन्हें व्रतोंका व्यावहारिक स्वरूप समझाओ और पश्चात् सामायिकके चढ़ते उतरते दर्जे बताओ।

'सम' यानी समता—समभाव—चित्तका समतोलपन (Equilibrium of mind) और 'आय' यानी लाभ। अर्थात् जिससे आत्माको स्वभावकी प्राप्ति हो उसे सामायिक कहते हैं। इसको निवृत्ति कहते हैं, तथापि मैं इसकी व्याख्या प्रवृत्तिकी भाँति करता हूँ। इससे मैं यह बताना चाहता हूँ कि सामायिक किसी मुर्दा या निद्रस्थ दशाका नाम नहीं है; किन्तु शरीर और मनके रोष करनेकी Acivity क्रिया actionका नाम है। सामायिककी यह व्याख्या मुझे बहुत ही सुन्दर मालूम होती है:—

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्यागः, तद्धि 'सामायिकं' व्रतं ॥

सामायिक समताको (कि जिसमें स्थिति स्थापकता और स्थिरताके गुणोंका समावेश होता है) विकसित करती है, (और इन गुणोंसे आत्मिक लाभके उपरान्त व्यवहारमें भी अकथ्य लाभ होता है), प्राणी मात्रमें अपने आपको देखना सिखाती है,

इन्द्रियनिग्रह और मनोनिग्रहका अभ्यास कराती है, शुद्ध और शुभ भावनाओंमें रमण करनेकी आदत डलवाकर सूक्ष्म प्रदेशोंमें विचरना सिखाती है, वाणी और शरीरके व्यापारमें उपयोग रखकर प्रवृत्ति करना बतलाती है । इसका परिणाम यह होता है कि हम बहुतसे अनावश्यकिय संकटोंसे बच जाते हैं । आगे हम सामायिकके भिन्न भिन्न अंगोंका विचार करेंगे:—

सामायिकमें सबसे पहले णमोकारमंत्र पढ़ा जाता है । इस मंत्रसे संसारके सारे उपकारी मनुष्योंका स्मरण होता है । जड़ देहकी बेड़ीसे छूटे हुए सिद्ध, छूटनेकी स्थितिमें पहुँच चुकनेवाले अरहंत, छूटनेके इच्छुक, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु; इन सबका स्मरण करनेसे इनकी भव्यमूर्तियाँ अपनी कल्पना शक्तिके सामने आजाती हैं । जब यह ज्ञान होता है कि हमारा आत्मा महान् शक्तिशाली आत्माओंकी छायामें—शरणमें आया है तब हममें बहुत कुछ साहस और शान्ति आती है और ४८ मिनट तक मनको वशमें रखनेके जिस व्रतमें हम बँधते हैं उस व्रतको बराबर पालनेके लिए हम शक्तिशाली होते हैं ।

इस प्रकार पहले पाठमें समर्थ आत्माओंका स्मरण किया, अपनी कल्पना शक्तिके द्वारा उनका दर्शन किया—पश्चात् दूसरे पाठमें हम उनको भावपूर्वक तीनवार नमस्कार करके, उनके प्रति, सत्कार सन्मान पर्युपासन आदि अनेक प्रकारसे भक्ति तथा बहुमान प्रद-

र्शित करते हैं । इससे उनके उच्च गुणोंमें हम तल्लीन होते हैं और उन गुणोंका अंश खींचते हैं ।

फिर द्वितीय कर्ममें सर्व प्रकारके, एकेन्द्रीसे पंचेन्द्री पर्यन्त जीवोंकी हमारे द्वारा जो हानि हुई है उसके लिए हम अपनी निन्दा करते हैं—क्षमा माँगते हैं, उन्होंने जो हमें हानि पहुँचाई है उसे भुलाकर उन्हें क्षमा करते हैं और फिरसे ऐसा न होनेकी भावना भाते हैं—कल्पना करते हैं ।

इन कृत्योंसे अपने हृदय स्थलको जोतकर—पोलाकर—बोने योग्य बनाकर अगला कर्म 'जगतमें उद्योत करनेवाले पुरुषोंकी प्रार्थना' किया जाता है । इसमें सागरसदृश गम्भीर 'सिद्धों' से सिद्धि माँगी जाती है । जैनधर्मकी यह महत्त्वाकाँक्षा विशेष ध्यान देने योग्य है । जैनधर्म किसी परमेश्वरकी चापलूसी करके थोड़ी भूमि या कुछ सोने चाँदीके टुकड़े माँगनेका सिद्धान्त नहीं सिखाता; किन्तु यह तो सबको परमेश्वर बननेकी ही महत्त्वाकाँक्षा करनेकी प्रेरणा करता है । इस धर्मकी प्रार्थना सेवकाईकी या किसी करद राजाकी पदवी प्राप्त करनेके लिए नहीं है; किन्तु जिनकी प्रार्थना की जाती है उन महाराजके तुल्य महाराज—परमेश्वरके सदृश परमेश्वर बननेके लिए है । प्रार्थनाके शब्दोंमें उन परमेश्वरोंको—सिद्धोंको—चन्द्रके समान शीतल और उसके साथ ही सूर्य जैसा तेजस्वी प्रकाशमय ज्ञान-मूर्ति वर्णन किया है कि जिनके गुणोंकी

कल्पना, प्रार्थना करनेवालेके मन और बुद्धिको चन्द्र सूर्य सदृश बनानेमें कारण होती है।

फिर सामायिक अंगीकार की जाती है। वास्तविक और पूर्ण सामायिक नव कोटि होना चाहिए। यानी मन वचन और कायासे कोई पाप करे नहीं, करावे नहीं और करते-को अच्छा समझे नहीं। इस प्रकार नवों रीतिओंसे पापोंसे दूर रहनेका व्रत लिया जाता है और यही सम्पूर्ण सामायिक है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इससे कम दर्जेकी सामायिक हो ही नहीं सकती। करोड़ रुपयेकी पूँजी रखनेवाला मनुष्य करोड़का व्यापार कर सकता है और दो सौकी पूँजीवाला दो सौका। किन्तु दोसौकी पूँजीवालेको भी व्यापार करनेका उतना ही स्वत्व है जितना कि करोड़की पूँजीवालेको। उसे केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि छोटे व्यापारमें छोटी ही प्रतिज्ञायें करे, और उनको सम्पूर्णतया पालन करे; अन्यथा उसकी बात हलकी हो जायगी और समय पड़ने पर उसे जेलमें भी जाना पड़ेगा। इसी भाँतिसे यदि करोड़पति भी करोड़की प्रतिज्ञा कर उसे पूरी न करेगा तो अपनी साख खोकर आखिर उसे भी जेलमें जाना पड़ेगा। ऐसी सैकड़ों बातें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। सामायिकमें भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जितनी जितनी क्रियायें पाली जा सकें उतनीहीको स्वीकार करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिए और उसीके अनुसार पाठ बोलना चाहिए।

पहले वचन और कायासे पाप न करनेकी प्रतिज्ञा कर सामायिक करे। जब इसका पूर्ण अभ्यास हो जावे—सब तरहसे इसका पालन किया जा सके; तब दूसरी प्रतिज्ञा—कायासे और वचनसे अनुमोदन न करनेकी—लेवे। इस भाँतिसे छह प्रतिज्ञायें कर सामायिक किया करे। जब ये छह भली भाँतिसे पाली जा सकें, तब मनसे पापकर्म न करने और न करानेकी प्रतिज्ञा लेना प्रारम्भ करे। इस तरह जब सामायिक आठ प्रकारसे निर्विघ्नतया—सरलतासे होने लगे, तब नवीं कोटि यह है कि किसीको पापकर्म करते देखकर या जानकर उसको अच्छा न समझनेकी—अनुमोदन न करनेकी—प्रतिज्ञा अंगीकार करे। इस तरह करनेसे न कुछ कठिनता जान पड़ेगी और न अन्धाधुन्ध सामायिक करनेका ही रिंवाज रह जायगा। शास्त्रानुसार नवकोटि सामायिक पाठके पढ़नेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि जितनी क्रियायें हम पाल सकें उतनी ही पाठमेंसे बोलें—प्रतिज्ञा करें। प्रत्येक मनुष्यके लिए एकही तरहका सामायिक पाठ भी नहीं होना चाहिए। उक्त कोटिके क्रमके अनुसार सामायिक पाठ भी निर्माण होने चाहिए। यह भी कह देना आवश्यक है कि संस्कृत और मागधीके प्रचलित सामायिक पाठ वर्तमान सर्वसाधारण समाजके लिए सर्वथा निरुपयोगी हैं। यह सब मानते हैं कि जिस भाषामें हम विचार करते हैं, जिस भाषाको बोलकर हम अपना सारा व्यवहार चलाते हैं, जो देशकी भाषा है वही भाषा ध्यान, प्रार्थना,

पूजन आदि क्रियाओंके करनेमें काम आवे तब ही भली भाँति—एकाग्रतासहित सब क्रियायें हो सकती हैं । प्रत्येक शब्दके उच्चारण, पाठ, और विचारके साथ साथ दूसरी जो सैकड़ों अनुवर्गणायें (Associations) स्वभावतः चली आती हैं, वे ऐसी भाषाके बोलनेसे कि जिसके शब्द समझमें नहीं आते हैं, या समझनेके लिए प्रयत्न करना पड़ता है, आनी बंद हो जाती हैं । अतः जिस भाषामें हम विचार करते हैं उसही भाषामें सामायिक पाठका भी उच्चारण करना चाहिए, स्मरण करना चाहिए । ऐसा करने पर ही सामायिक तल्लीनतापूर्वक हो सकेगी । यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि सामायिक तल्लीनताका दूसरा—पर्यायवाची शब्द है । सामायिक यह किसी पाठका नाम न होकर मानसिक स्थितिका नाम है अतः ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न करनेके लिए जो शब्द-समूह उपयोगी हो उसे ही काममें लाना चाहिए । वर्तमानमें जो सामायिकपाठ

प्रचलित है, वे प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, बुन्देलखण्डी, ब्रज और मारवाड़ी भाषाओंकी खिचड़ी हैं । ऐसे पाठोंका प्रचलित रहना—जिसको किसी देशके भी लोग भली भाँति नहीं समझ सकते हैं, कदापि ठीक नहीं हो सकता । ऐसे पाठको कई वर्षोंसे लाखों मनुष्य बिना किसी भाँतिका परिवर्तन किये किस प्रकार पढ़ते रहे हैं, यह विचार जैनविचारनेताओंके प्रति उत्पन्न होनेवाली मेरी सम्मान-बुद्धिको रोक देता है । यह स्थितिचुस्तता Conservatism (मुर्दापन)का चिह्न है । इसलिए मैं आग्रह-पूर्वक कहूँगा कि आत्मविद्या, मानसशास्त्र और कुछ अंशोंमें हिप्नोटिज्म auto suggestions वाले विभागके ज्ञानकी सहायतासे सामायिकके पाठ, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगाली, कनड़ी, पंजाबी और अँगरेजी आदि सब भाषाओंमें बनानेका प्रयास करना चाहिए । इसके लिए पूर्ण अवकाश भी है और इसकी आवश्यकता भी है । (अपूर्ण)

(गुजराती जैनहितेच्छुसे)

तुम्हारा जीवन चाहे कितना ही छोटा और नीचा क्यों न हो तुम्हें चाहिए कि उसका स्वागत करो और उसे आनन्दपूर्वक व्यतीत करो । उससे दूर मत हटो, उसे बुरा मत समझो और उसकी निन्दा मत करो । वह इतना बुरा नहीं है जितने तुम हो । जब तुम बहुत धनी होते हो तब यह बहुत निर्धन मालूम होता है । दोष हूँदनेवाले स्वर्गमें भी न मानेंगे । वे वहाँ भी दोष निकालते ही रहेंगे । अपने जीवनसे प्रेम करो, चाहे वह कितना ही तुच्छ हो । गरीबसे गरीब घरमें भी तुम्हें कुछ घंटे आनन्ददायक मिलेंगे । प्रकृतिकी सुन्दरतासे अमीर, गरीब दोनों एकसा लाभ और आनन्द उठा सकते हैं । सूर्यास्तकी सुन्दरता जैसी गरीबोंके झोपड़ोंमें मालूम होती है वैसी ही अमीरोंके महलोंमें भी मालूम होती है । संतोषी आदमीको झोपड़ीमें भी वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा महलोंमें ।

(थारो)

अप्रतिष्ठित प्रतिमा पूज्य है या नहीं ?

(ले०-श्रीयुत पं० उदयलालजी काशलीवाल ।)

इसके पहले कि हम इस विषयपर विचार करें, यह बतला देना बहुत आवश्यक समझते हैं कि प्रतिमा-पूजनसे जैनधर्मकी क्या मंशा है और क्यों इस विषयको उसने महत्त्व दिया ।

स्वर्गीय पं० भागचन्द्रजीने एक भजनमें अनेक देवोंका स्वरूप बतलाकर कहा है:-

श्रीअरहंत परम वैरागी-

दूषनलेश प्रवेश न जिनमें ।

‘ भागचन्द्र ’ इनको स्वरूप यह,

अब कहो पूज्यपनो है किनमें ॥

पंडित भागचन्द्रजीने उक्त भजनमें देव विषयकी चर्चा करके सत्यार्थदेवपना अरहंत भगवानमें उहराया है । वह इसलिए कि उनमें किसी प्रकारका दोष नहीं है । वे वीतराग हैं । और और देवोंसरीखा उपासकोंके हृदयमें सरागभाव मोहभाव पैदा करनेका उनमें कोई चिह्न नहीं है । तब यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि जैनधर्मकी मंशा प्रतिमा-पूजनसे पूजकोंके हृदयमें वीतरागता या शान्ति पैदा करना है । यदि उसकी यह मंशा न होती तो उसे इस प्रकारकी निष्परिग्रह वीतराग प्रतिमाओंके बनानेकी जरूरत न पड़ती । और और लोगोंकी तरह वह भी ‘ भूषणवस्त्र-शस्त्रादि

युक्त ’ प्रतिमाओंकी स्थापना कर लेता । इस बातसे कोई इंकार नहीं कर सकता कि जैसा पदार्थ सामने होता है, या जैसेका ध्यान आराधन किया जाता है हृदयमें उसी तरहका प्रतिबिंब पड़कर परिणाम भी फिर उसी तरहके होते हैं । उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए कि हमारी आँखोंके सामने एक सुन्दर स्त्रीका चित्र है । उसे देखकर हमारे हृदयमें भी कुछ न कुछ विकार उत्पन्न हो जायँगे-हमारे परिणामोंकी गति बदलना स्वाभाविक है । उसीतरह यदि हम किसी योगी-महात्माके दर्शन करते हों, तो हमारे भावोंमें शान्ति होती जान पड़ेगी । भावोंका यह परिवर्तन प्रायः सामनेकी वस्तुको देखकर हुआ करता है । पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह बात उन्हीं लोगोंके लिए है जो निरालम्ब ध्यान नहीं कर सकते । या यों कह लीजिए कि स्वतंत्ररूपसे आत्मस्मरण करनेकी जिन्हें योग्यता प्राप्त नहीं है । मोक्षमार्गके दो भेद हैं-एक निश्चय और दूसरा व्यवहार । पहले मार्गके उपासक योगी-माहात्मा होते हैं । उनकी आत्मशक्तियाँ इतनी विकाशको प्राप्त हो जाती हैं-उनका मन इतना स्थिर हो जाता है कि वे स्वतंत्ररूपसे आत्मध्यान

कर सकते हैं और इसी लिए वे प्रतिमापूजन आदि न भी करें तो उनके लिए कोई हानि नहीं। दूसरे मार्गके उपासक गृहस्थ हैं। वे सारे दिन घरगिरिस्तीके काम-धन्दोंमें लगे रहते हैं। उन्हें अपने भावोंके पवित्र करनेके साधन बहुत कम मिलते हैं। इस लिए उन्हें घरगिरिस्तीके कामोंसे सारे दिनमें जितना कुछ थोड़ा या बहुत समय मिले, उसमें वे ऐसा अभ्यास करें, जिससे दिनोंदिन उनके भावोंमें पवित्रता बढ़ती जाय और धीरे धीरे वे भी स्वतंत्ररूपसे आत्म-ध्यान कर सकें। इसी विकाश या उन्नतिका साधन प्रतिमाराधन है। इसे छोड़कर प्रतिमा-पूजनसे जैनधर्मका और कोई मंशा नहीं जान पड़ता।

रही प्रतिमापूजनके महत्त्वकी बात, सो यह स्पष्ट है कि शान्ति सभी चाहते हैं और दुःख या आकुलतासे सब घबराते हैं। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि योगियोंके दर्शनसे भावोंमें शान्ति पैदा होती है, इस लिए कि वे स्वयं भी शान्त हैं। तब यह कहनेमें भी कोई हर्ज नहीं कि उन्हीं तपस्वी ध्यानी योगियोंकी सी वीतराग शान्त मूर्तियाँ भी हृदय पर अपनासा प्रतिबिम्ब डालकर उसमें वैसी ही शान्त भावनायें पैदा करेंगीं। यही कारण है कि जैनधर्मने अपनी प्रतिमाओंको बहुत शांत बनाया है। क्योंकि जैनधर्मका अन्तिम ध्येय ही यह है कि संसारके जीवमात्र कर्मोंसे मुक्ति लाभकर परम शान्ति प्राप्त करें। उसी परम शान्तिके मार्ग पर चलनेकी यह प्रतिमा-पूजन पहली

सीढ़ी है। जब यह सिद्ध हो गया कि प्रतिमा-पूजनसे जैनधर्मकी मंशा प्राणियोंको शान्ति लाभ कराना है, तब यह देखना चाहिए कि उसकी इस मंशाको प्रतिष्ठित प्रतिमायें ही पूरा कर सकती हैं या अप्रतिष्ठित प्रतिमाओंसे भी काम चल सकता है? हमने जहाँ तक इस विषयपर विचार किया है, हमारा विश्वास इस बातसे इन्कार नहीं करता कि अप्रतिष्ठित प्रतिमायें भी शान्ति प्राप्त करनेकी साधिका हैं। हमें प्राप्त करना है वीतरागता-शान्ति और यह जैसी ही प्रतिष्ठित प्रतिमाओंके ध्यानादिसे हो सकती है वैसी ही अप्रतिष्ठित प्रतिमाओंसे भी। तब हम नहीं कह सकते कि केवल प्रतिष्ठित प्रतिमाके पूजनको ही इतना महत्त्व क्यों दिया गया?

हमने इस विषयका जिकर समाजके एक दो विचारशील विद्वानोंसे भी किया। वे भी हमारे इन विचारोंके बहुत अंशोंमें अनुकूल हुए। उन्होंने प्रतिष्ठित प्रतिमाको महत्त्व देनेका कारण केवल प्रसिद्धि बतलाया। उन्होंने इस विषयमें उदाहरण दिया कि यदि गवर्नमेंट किसीको 'रायबहादुर' आदिकी पदवी प्रदान करती है तो उसके समाचार पेपरोंमें प्रगट किये जाते हैं, सर्वसाधारण तक उसकी खबर पहुँचाई जाती है और उत्सव आदि किये जाते हैं। यह सब क्यों? विचार करनेसे निष्कर्ष निकलता है कि केवल प्रसिद्धके लिए। अन्यथा जिसे पदवी दी गई, उसे गुपचुप एक पत्र द्वारा सूचना दे

देनेसे, कि तुम्हें गवर्नमेंटने अमुक पदवी प्रदान की, काम चल सकता था। इसी तरह काम तो चल सकता था अप्रतिष्ठित प्रतिमाओंसे भी, पर सर्वसाधारण पर प्रतिमापूजनका अधिक प्रभाव पड़े और जैनधर्मकी प्रभावना हो, इन सब बातोंके लिए प्रतिष्ठाका मार्ग चलाया गया। हमें भी इस कथनमें तथ्य जान पड़ता है और ऐसा होना असंभव भी नहीं। कारण जैनधर्म सरीखा वीतरागता-प्रिय धर्म इन बाह्य आडम्बरोंको पसन्द नहीं कर सकता। उसे प्रतिमापूजनसे जो वीतरागता इष्ट है वह अप्रतिष्ठित प्रतिमासे भी प्राप्त हो सकती है। तब वह क्यों एक नया भार अपने सिर उठाने चला !

तब यह प्रश्न उठता है कि एक तो यह प्रथा बहुत पुरानी है और दूसरे यदि अप्रतिष्ठित प्रतिमाओंसे ही जैनधर्मकी प्रतिमापूजनकी मंशा सिद्ध हो सकती थी तो फिर आचार्योंने प्रतिष्ठापाठ वगैरह ग्रन्थोंको क्यों बनाया और क्यों श्रावकोंको प्रतिष्ठाके करनेका उपदेश दिया ?

यद्यपि इस प्रश्नका समाधान ऊपर कहे गये प्रतिमापूजनके प्रभावसम्बन्धी कथनसे बहुत कुछ होजाता है तोभी इस प्रश्नके उत्तर पर एक और रीतिसे हम विचार करते हैं।

यह जो कहा गया कि प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करना पुरानी प्रथा है, इस पर हमारा यह कहना है कि हो सकता है यह प्रथा पुरानी हो; परंतु यह मान लेनेके लिए हम

बाध्य नहीं कि प्रतिष्ठाविधि सदासे चली आती हो। क्योंकि कई ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि जिनसे अप्रतिष्ठित प्रतिमाका पूजा जाना भी सिद्ध होता है।

हम इस बातको सप्रमाण सिद्ध नहीं कर सकते कि जैनधर्ममें प्रतिष्ठाविधिका कब सूत्रपात हुआ, पर यह बतला सकते हैं कि जैनधर्ममें एक ऐसा भी युग बीत गया है, जिसमें कि अप्रतिष्ठित प्रतिमायें भी पूजी मानी जाती थीं और इस विषयका उल्लेख हम स्वयं आगे चल कर करेंगे।

दूसरे यह कहा गया कि 'तो आचार्योंने प्रतिष्ठा ग्रन्थोंको क्यों रचा और क्यों प्रतिष्ठादिके करनेका उपदेश किया।' इस पर हमारा कहना यह है कि हम यह नहीं कहते कि आचार्योंने प्रतिष्ठा वगैरहका उपदेश देकर या उस सम्बन्धके ग्रन्थोंको रचकर कोई बुरा काम किया हो। परन्तु हम जिस प्रतिष्ठापद्धतिकी चर्चा कर रहे हैं वह कितनी पुरानी है इस विषयका पता लगाना चाहते हैं। और इसी लिए हमें अधिकसे अधिक पुराने जमानेके सम्बन्धमें विचार करना आवश्यक होगा।

इस विषयके निर्णय करनेके दो साधन हो सकते हैं—एक साहित्य और दूसरा इतिहास। साहित्यकी दृष्टिसे जब हम विचार करते हैं तो हमें यह निःसंकोच कह देना पड़ेगा कि इस प्रतिष्ठाके सम्बन्धका इस समय जितना साहित्य उपलब्ध है, वह सब इतना पुराना

नहीं जिससे हम विश्वास कर सकें कि प्रतिष्ठाविधि बहुत पुरानी है। इस समय आशाधर, नेमिचन्द्र, अकलंक (दूसरे), इन्द्रनन्दि, एकसन्धि, आदि जितने विद्वानों और मुनियोंके प्रतिष्ठापाठ मिलते हैं वे सब विक्रमकी ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दिके बादके हैं। हमें यह देखकर बड़ा विनोद होता है कि अब भी हमारे यहाँ विक्रमकी दूसरी, तीसरी शताब्दिके बने ग्रन्थ जब मिलते हैं तब प्रतिष्ठा सरीखे एक आवश्यक विषयके ग्रन्थ उस समयके बने क्यों प्राप्त नहीं ? इसका कोई कारण होना चाहिए।

कुछ लोगोंका कहना है कि पहले शास्त्रोंके लिपिबद्ध करनेकी प्रथा बहुत कम थी। इस लिए सब विषयोंके ग्रन्थ तब नहीं लिखे गये थे। यह ठीक है कि शास्त्रोंके लिखनेकी प्रथा पहले कम थी, पर यह हमारे प्रश्नका सन्तोषजनक उत्तर नहीं। कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, आदि आचार्योंके ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर प्रतिष्ठासम्बन्धके इतने पुराने ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं, तब इससे भी अधिक पुराने समयकी तो हम बात ही क्या कहें।

१ आशाधरका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दि है।
२ नेमिचन्द्र (गोम्मटसारके कर्ता) का समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दि है। ३ प्रतिष्ठापाठ शायद दूसरे अकलंकका है। अकलंक प्रतिष्ठापाठके प्रारंभमें नेमिचन्द्रके प्रतिष्ठापाठका उल्लेख है, अतएव ये दूसरे अकलंक ग्यारहवीं शताब्दिके भी पीछेके हैं।
४-५ इन्द्रनन्दि और एकसन्धिका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दि है।

—सम्पादक।

इस पर यह बाधा दी जा सकती है कि तब पुरानी प्रतिष्ठित प्रतिमायें क्यों देखी जाती हैं ? इसका उत्तर यह है कि विक्रमकी समकालीन या उनके सौ दोसौ वर्ष बादकी प्रतिष्ठित प्रतिमायें अबतक देखनेमें नहीं आई हैं और यदि किसी सज्जनने कहीं देखीं हों तो उन्हें उसका उल्लेख करना चाहिए। और कदाचित् कहीं हों भी, तो उससे यह सर्वथा सिद्ध नहीं हो सकता कि प्रतिष्ठा करना उस समयके लिए आज जैसा आवश्यक ही समझा जाता हो। क्योंकि अप्रतिष्ठित प्रतिमा पूजे जानेके भी कई प्रमाण और युक्तियाँ दी जा सकती हैं।

इतिहासदृष्टिसे विचार करने पर भी इस विषयमें विशेष तथ्य नहीं निकलता। ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण अबतक प्रगट नहीं हुआ कि जिससे प्रतिष्ठाविधि दो हजार वर्षसे पुरानी ठहराई जा सके। पर ऐसे प्रमाण कई मिलते हैं जो जैनधर्मको उक्त अवधिसे पुराना सिद्ध करते हैं। हमारे कहनेका मतलब यह है कि प्रतिष्ठाविधि बहुत पुरानी नहीं। जैनधर्ममें एक समय अप्रतिष्ठित प्रतिमायें भी पूजी जाती थी। हमारा यह कथन उल्लिखित बातोंसे बहुत कुछ पुष्ट होता है। इसके सिवा अब हम कुछ ऐसी युक्तियाँ भी पेश करते हैं जो हमारे कथनको और भी सुदृढ़ करती हैं।

१—कई स्थानों पर ऐसी प्रतिमायें अब भी मौजूद हैं, जिन पर प्रतिष्ठा वगैरहका

कोई साल-संवत् नहीं और जो बहुत समयसे अबतक पूजा जा रही हैं। जैसे बड़वानीमें बावनगजाकी प्रतिमा और कुंडलपुर (दमोह) के पहाड़में उकेरी हुई महावीर भगवान्की प्रतिमा।

२-जमीनमेंसे कई प्रतिमायें ऐसी निकलती हैं जिनपर कोई संवत् वगैरह नहीं होता और जिन्हें अधिक श्रद्धालु लोग चौथे कालकी बतला देते हैं। हमारे विश्वासके अनुसार ऐसी प्रतिमायें अप्रतिष्ठित ही पूजा जाती थीं।

३-शास्त्रोंमें यह लिखा बतलाया जाता है कि कोई अप्रतिष्ठित प्रतिमा हो और यह मालूम न हो कि वह अप्रतिष्ठित है, और सौ वर्षतक बराबर पुजती चली जाय तो फिर वह भी पूज्य हो जाती है। हमारे विश्वासके अनुसार यह अप्रतिष्ठित प्रतिमाके साथ सौ वर्ष तक पुजते रहनेका सम्बन्ध पीछेसे जोड़ा गया है। पहले अप्रतिष्ठित प्रतिमा भी पूजा जाती थी। यह आग्रह ही न था कि प्रतिष्ठित प्रतिमा ही पूजा जाय। यदि ऐसा न हो तो बड़ी भारी बाधा आकर उपस्थित होती है। कल्पना कीजिए कि किसीने एक अप्रतिष्ठित प्रतिमाका पूजना भूलहीसे आरंभ कर दिया। वह प्रतिमा कोई चालीस पचास वर्षतक पुजती चली गई। तब यह बतलाइए कि चालीस वर्षतक जिन जिन लोगोंने उस प्रतिमाको पूजा उन्हें उनके भक्ति भावोंके अनुसार पुण्य-बन्ध हुआ या नहीं? यदि

हुआ कहा जाय तब तो अप्रतिष्ठित प्रतिमा भी पूज्य ठहर ही जायगी और यदि यह कहा जाय कि उन्हें पुण्यबन्ध नहीं हुआ तो यह बात जैनधर्मके सिद्धान्तसे विरुद्ध पड़ती है। क्योंकि उसकी तो सारी इमारत ही भावोंपर खड़ी हुई है और इससे कोई इंकार नहीं कर सकता।

४-प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित प्रतिमाको पूजनेसे प्रतिमाके सम्बन्धसे जो भाव होते हैं उन भावोंमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता।

५-यशस्तिरके आठवें अध्यायमें एक जगह लिखा हुआ है कि—

यथा पूज्यं जिनन्द्राणां
रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः
पूज्याः संप्रति संयताः ॥

इसका मतलब यह है कि जैसे लेप आदि द्वारा बनी जिनभगवान्की प्रतिमा पूज्य है, उसी तरह प्राचीन कालके मुनियोंकी छायाको धारण करनेवाले इस समयके मुनि भी पूज्य हैं। इसमें लेपकी बनी प्रतिमाका जिकर है। हमारी समझमें लेप प्रतिमासे भीतोंपर चित्रकारीकी बनी हुई प्रतिमासे ग्रन्थकारका मतलब है। क्योंकि लेप-प्रतिमाका बनना इसी रूपसे संभव हो सकता है। तब ऐसी प्रतिमाओंकी भी प्रतिष्ठाविधि होगी यह हमारे ध्यानमें कम आता है*। हम तो

१ परन्तु प्रतिष्ठापाठोंमें कागज आदिपर बनी हुई प्रतिमाओं (चित्रों) की भी प्रतिष्ठाविधि मौजूद है

—सम्पादक।

कहते हैं कि यह सब अप्रतिष्ठित प्रतिमाओंके पूजनेके ही विधान हैं और इसलिए हम यह कहनेमें, कि अप्रतिष्ठित प्रतिमा भी पूज्य है, कुछ हानि नहीं देखते ।

७—अकृत्रिम प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा नहीं होती ।

ऊपर जिस विषयकी चर्चा की गई है वह बिलकुल नया है और जहाँतक हमें विश्वास है हमारे भाइयोंको यह पसन्द भी न आयगा । पर हमने इस विषयको इस लिए नहीं चर्चाया है कि इसमें जो कुछ कहा गया है वह सब निर्भ्रान्त है । केवल एक विषयपर अपने विचार प्रगट किये हैं । समाजके विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे इसकी विशेष चर्चा कर निर्णय करें । यह कहना अनुचित न होगा कि विचार शान्तिके साथ किये जाने चाहिए ।

सम्पादकीय नोट—इस लेख पर विद्वानोंको विचार करना चाहिए । इसके लिए बड़े परिश्रमकी और छानबीन करनेकी ज़रूरत है । मथुराकी जैनप्रतिमायें सबसे अधिक पुरानी हैं । वे लगभग १८०० वर्ष पहलेकी हैं । उनपर जो लेख हैं, उनमें प्रायः यह लिखा हुआ है कि अमुकके उपदेशसे अमुकने प्रतिमा बनवाई या स्थापित कराई । यह किसी भी लेखसे स्पष्ट नहीं होता कि उनकी प्रतिष्ठा करवाई गई । एक बात और है जिसका खयाल इस विषयपर विचार करते समय रखना चाहिए । प्रतिष्ठित कराई, या प्रतिमाकी

प्रतिष्ठा की, इसका सामान्य अर्थ स्थापित करना, विराजमान करना, होता है । ऐसे शब्दोंको देखकर यह खयाल कर लेना कि ये प्रतिष्ठापाठकी विधियोंके अनुसार प्रतिष्ठित की गई हैं, ठीक न होगा । उपलब्ध प्रतिष्ठापाठ ग्याहरवीं बारहवीं शताब्दि के पहलेके नहीं हैं । परन्तु इनका बारीकीसे अध्ययन करनेसे मालूम हो सकता है कि ये किन ग्रन्थोंके आधारसे बने हैं और इनके पहले प्रतिष्ठायें किस विधिसे होती थीं । इस विषयका निर्णय करनेवालोंको श्वेताम्बर सम्प्रदायके और वैदिक सम्प्रदायके प्रतिष्ठापाठोंका भी तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करना चाहिए । आश्चर्य नहीं जो बौद्धसम्प्रदायके भी प्रतिष्ठापाठ रहे हों और शायद अब भी मिलते हों । प्रतिष्ठापाठ अधिक पुराने नहीं मिलते हैं, केवल इसी कारण यह समझ लेना कि ग्यारहवीं शताब्दिके पहले प्रतिष्ठाविधि नहीं थी, या प्रतिष्ठायें नहीं होती थीं, निर्भ्रान्त नहीं हो सकता । हाँ, यह संभव है कि इन प्रतिष्ठापाठोंके पहले जो प्रतिष्ठायें होती होंगी, वे इतने आडम्बरसे न होती होंगी और विधि भी इतनी जटिल न होगी । इस विषयका खास तौरसे अध्ययन करनेवालोंके द्वारा और भी अनेक बातोंका पता लग सकता है । तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंमें पहले चिह्न थे या नहीं, नहीं तो इनका प्रचार कबसे हुआ, पार्श्वनाथकी प्रतिमापर फण और आदिनाथकी प्रतिमापर लम्बे स्कन्धपर्यन्त लटकते हुए केश, ये कबसे बनना शुरू हुए, यक्षयक्षियोंकी मूर्तियोंका बनना अरहंतकी प्रतिमाओंके साथ कबसे चला, मथुरामें जो आयागपट मिले हैं, वे क्या हैं, उनका प्रचार पीछे क्यों न रहा, उनके साथ जो नम्र स्त्रियोंकी मूर्ति रहती थीं, सो क्या हैं, आदि । आशा है कि विद्वानोंका ध्यान इस ओर जायगा और उनके द्वारा पं० उदयलालजीके खड़े किये हुए इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय हो जायगा ।

आचार्य सिद्धसेन ।

(लेखक—श्रीयुत मुनि जिनविजयजी ।)

जैनहितैषीकी गत श्रावण और भाद्रपद मासकी युग्मसंख्यामें (भाग ११, अंक १०—११) ‘ आचार्य सिद्धसेन ’ के विषयमें संपादकका एक नोट निकला है । उसका मतलब यह है कि आदिपुराण और हरिवंशपुराण आदिके कर्ताओंने जिन सिद्धसेनाचार्यका उल्लेख किया है वे कब और कहाँ हुए इसका कोई पता नहीं । अभी तक यह खयाल था कि, ये वे ही सिद्धसेन होंगे जो श्वेतांबरसंप्रदायमें ‘ दिवाकर ’ के विशेषणसे प्रसिद्ध हैं । परंतु अब इसमें कुछ संदेह होने लगा है । संदेहका कारण प्रेमीजीने हरिभद्रसूरिके धर्मबिन्दुको लिखा है । इस ग्रंथके चौथे अध्यायमें दीक्षा लेने योग्य मनुष्यका वर्णन करते हुए ग्रंथकर्ताने वाल्मीकि, व्यास, सम्राट्, वायु, नारद, वसु, क्षीरकदंबक, बृहस्पति, विश्व और सिद्धसेन इन दश आचार्योंके मत दिये हैं और उनको ठीक न बतलाकर अंतमें अपना मत दिया है । सिद्धसेनका मत सबसे पीछे दिया है और अंतमें अपना । इससे मालूम होता है कि ये सिद्धसेनाचार्य हरिभद्रसे पहले हो गये हैं और संभवतः उनके संप्रदायके नहीं किन्तु दिगंबर संप्रदायके थे । ”

इस विषयमें हमारा अभिप्राय यह है कि हरिभद्रसूरिने अपने धर्मबिन्दुमें जिन सिद्धसेनका मत दिया है वे जैन नहीं; अन्यधर्मी हैं । सिद्धसेनके पहले जितने आचार्योंके नाम हैं वे सब अन्यधर्मी होनेसे सिद्धसेन भी अन्य ही हैं । धर्मबिन्दुके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीमुनिचंद्रसूरि (जिनका स्वर्गवास विक्रम संवत् ११७८ में हुआ था) ने भी इन्हें ‘ परतीर्थी ’ लिखा है । परतीर्थी शब्दका वही अर्थ है जो ‘ एकांतवादी ’ का है । टीकाकारका उल्लेख इस प्रकार है—

“ अथैतस्मिन्नेवार्थे परतीर्थिकमतानि दश स्वमतं चोपदर्शयितुमिच्छुः ‘नियम एवायमिति वायुः’ इत्यादिकम्; ‘भवन्त्यल्पाऽपि असाधारणगुणाः कल्याणोत्कर्षसाधकाः’ इत्येत्पर्यन्तं सूत्रकदम्बकमाह ।

अध्याय ४ सूत्र ९ ।

“ इत्थं परतीर्थिकमतान्युपदर्श्य, स्वमतमुपदर्शयन्नाह । ” अध्याय ४ सूत्र २३ ।

तथा स्वयं सिद्धसेनके मतको प्रदर्शित करनेवाले ‘ सर्वमुपपन्नमिति सिद्धसेनः ’ (अध्याय ४, सू० २२) इस सूत्रके व्याख्याताने, सिद्धसेनको नीतिकार और शास्त्रविशेषका बनानेवाला—सिद्धसेनो नीतिकारशास्त्रकृद्विशेषः—लिखा है । इससे

निश्चित है कि ये सिद्धसेन जैनसंप्रदायके आचार्य नहीं परन्तु अन्यमतके अचार्य हैं ।

अब रही बात यह कि पुराणस्मृत सिद्धसेन कौन हैं ? हमारी समझमें तो, ये वे ही सिद्धसेन हैं, जिन्हें श्वेतांबराचार्योंने दिवाकरके प्रतिष्ठित—पदसे विभूषित लिखा है, जिन्होंने ‘सम्मतितर्क’ और ‘न्यायावतार’ जैसे अपूर्व तर्कशास्त्र लिखकर जैन—साहित्यमें अभिनतर्कप्रणालीको प्रविष्ट किया है और जो उज्जयिनीके महाराज विक्रमादित्यकी सभाके ‘क्षपणक’ नामसे प्रसिद्ध रत्न थे । पुराणोंमें दिये हुए विशेषण उन्हींमें चरितार्थ हो सकते हैं । पुराणोंमें कैसे विशेषण लिखे गये हैं, इस आकांक्षाके शमनार्थ हम यहाँ पर वे दो श्लोक उद्धृत करते हैं जो आदिपुराण और हरिवंशपुराणमें मिलते हैं:—

“प्रवादिकरियूथानां केशरी नयकेशरः ।
सिद्धसेनकविर्जियाद् विकल्पनखराड्डुरः ॥”
—आदिपुराण ।

“जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः”
—हरिवंशपुराण ।

आदिपुराणके दिये हुए—प्रवादीरूप हाथियोंके लिए नयस्वरूप केशर और विकल्परूप तीक्ष्ण नखोंके धारण करनेवाले केशरी—सिंह—विशेषणसे सिद्धसेन बड़े भारी तार्किक—वादी होने चाहिए और हरिवंशपुराणके लिखे हुए—जगत्में प्रसिद्ध है बोध जिनका ऐसे वृषभ—आदिनाथ (?) के समान सिद्धसेनकी स्वच्छ सूक्तियाँ सज्जनोंकी बुद्धि-

को जागृत करती हैं—इस विशेषणसे सिद्धसेन महाकवि होने चाहिए । दिवाकर सिद्धसेनमें ये दोनों बातें घटती हैं । वे महावादी भी थे और महाकवि भी थे । बड़े बड़े आचार्योंने इनको, इन्हीं विशेषणोंसे विशिष्ट लिखा है । भद्रेश्वर नामके एक विद्वान् आचार्य बहुत पहले हो गये हैं । उन्होंने प्राकृत—भाषामें ‘कथावली’ नामका एक महान् ग्रंथ लिखा है । उसके अन्तिम भागमें कितने एक प्रभावक और प्राचीन आचार्योंके जीवनचरित लिखे हुए हैं । सिद्धसेनसूरिका भी कुछ थोड़ासा हाळ लिखा है । इनके प्रबंधके प्रारंभहीमें इन्हें महावादी और महाकवि लिखा है । यथा—

“उज्जेणीए नयरीए महावाई महाकवी
य सिद्धसेणो नाम साहू ।”

चरितग्रन्थोंके सिवा तात्त्विकग्रन्थोंमें भी इन्हें ऐसी ऐसी महती उपाधियोंसे विभूषित किया है । हरिभद्रसूरि, जिनेश्वरसूरि, यशोविजयोपाध्याय आदि विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें इन्हें कहीं महावादी, कहीं महामति, कहीं वादिमुख्य, और कहीं तर्कविशुद्धबुद्धि, इत्यादि नाना विशेषणोंसे उल्लिखित किया है । वास्तवमें ये थे भी ऐसे ही सम्माननीय, इसमें जरा भी सन्देह नहीं । इनके बनाये हुए सम्मतितर्क, न्यायावतार और स्तुतियाँ आदि ग्रन्थ इस बातकी प्रतीति करा रहे हैं ।

श्वेताम्बर-संप्रदायके पूर्वाचार्योंमें, कितने एक शास्त्राय विचारोंके विषयमें थोड़ासा परंतु

प्रशस्य मतभेद था। इस भेदके कारण आचार्य-गण दो दलमें बँट गये थे।* जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्य 'सैद्धान्तिक' पक्षके समर्थक थे और सिद्धसेनसूरि 'तार्किक' मतके संस्थापक थे। जिनभद्रगणिके मतके पोषक आचार्य 'सैद्धान्ति' कहे जाते हैं और सिद्धसेनसूरिके मत-पोषक 'तार्किक' या 'सिद्धसेनीय' कहे जाते हैं। हमारे विचारसे, शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें 'सिद्धसेनीयाः' और 'सैद्धसेनाः' ऐसे जो उदाहरण " नाम दुः । १ । १ । १ । " इस सूत्रकी व्याख्यामें दिये हैं, वे इसी आशयको लेकर दिये गये हैं।†

विवादास्पद विषयोंमें, केवलज्ञान और केवलदर्शन मुख्य हैं। सिद्धान्तपक्षी आचार्योंका कथन है कि सिद्धान्तों—आगमोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों पृथक् पदार्थ माने गये हैं। इस लिए सर्वज्ञको ये दोनों उपयोग क्रमशः होते हैं। तर्कवादी सिद्धसेन कहते हैं कि, नहीं यह बात तर्कसे सिद्ध नहीं होती। केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों पृथक् पदार्थ नहीं, एक ही हैं। तर्कसे यही

* " क्रमोपयोगवादिनां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादानां, * * * यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमिति वादिनां च महावादिश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां साधारण्यो विप्रतिपत्तयः ॥ "

—ज्ञानबिन्दु, यशोविजयोपाध्याय।

† अमोघवृत्तिके 'षडनयानाहुः सिद्धसेनीयाः सैद्धसेनाः' इस उदाहरणसे मालूम होता है कि सिद्धसेन और उनके अनुयायी छह नय मानते थे, सात नहीं।

—सम्पादक।

सिद्ध होता है। जो केवलज्ञान है वही केवलदर्शन है। इस मतको तर्कसे खूब पुष्ट किया है। इनके तर्क बड़े बलिष्ठ और प्रौढ़ हैं। इस लिए इनका नाम तार्किकतया प्रसिद्ध हुआ। इनके मतका समर्थन करनेवाले विद्वान् तार्किक, सिद्धसेनीय या सैद्धसेनके विशेषणसे उल्लिखित किये जाते हैं।

विद्वानोंका मत है कि जैनसाहित्यमें जो तर्कशास्त्र प्रविष्ट हुआ है वह इन्हींकी बदौलत। इनके पूर्वमें जैनोंका खास कोई तर्कशास्त्र नहीं था। पिछले आचार्योंने जो तर्कशास्त्र रचे हैं वे इन्हींके बनाये हुए मार्गके ऊपर अवलंबित हैं। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने, मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रके इतिहासकी जो पुस्तक (History of the Medieval School of Indian Logic.) लिखी है, उसमें सिद्धसेनसूरिके विषयमें लिखा है कि—

“ऐतिहासिक कालके सबसे पहले न्यायशास्त्रको नियमबद्ध लिखनेवाले जैन लेखक सिद्धसेन दिवाकर मालूम होते हैं। इनसे पहले शायद जैन न्यायका कोई खास ग्रंथ मौजूद नहीं था। उस समय न्यायकी बातें धर्म और सिद्धान्त ग्रंथोंमें ही गभित थीं। इन्होंने ही सबसे पहले न्यायावतार नामक न्यायग्रंथ बनाकर न्यायशास्त्रकी स्थापना की। यह छोटासा ग्रंथ केवल ३२ श्लोकोंका है। (जैनहितैषी, भा० ९, अं० ३.)

इन उल्लेखोंसे यह सिद्ध होता है कि सिद्धसेन दिवाकरको जो महावादी आदि

उपाधियाँ दी जाती हैं वे यथार्थ हैं । जैसे ये प्रचण्ड तार्किक थे कवि भी वैसे ही उत्कृष्ट थे । इनका बनाया हुआ 'कल्याणमन्दिर-स्तोत्र' पढ़कर कौन सहृदय आनन्दित नहीं होता ? भक्तिरससे ओत-प्रोत भरे हुए उसके प्रत्येक काव्यसे किस अर्हद्भक्तका हृदय परमात्माके परम-गुणोंमें लीन नहीं हो जाता ? कल्याणमन्दिर जैसी अनेक स्तुतियाँ इनकी बनाई हुई उपलब्ध हैं जिनमें अर्हद्देवकी अनेक प्रकारसे स्तवना की गई है । उपर्युक्त न्यायावतारको भी इन्हीं स्तुतियोंमें की एक स्तुति समझना चाहिए ।

जगद्विश्रुत हेमचन्द्राचार्यने अपने सिद्ध-हेम-शब्दानुशासनमें उत्कृष्टता दिखानेके लिए 'अनुसिद्धसेन कवयः' (तस्मादन्ये हीना इत्यर्थः) का उदाहरण लिखकर सिद्धसेनको सर्वोत्कृष्ट कवि बतलाया है । और अपने 'अयोगव्यवच्छेदस्तवन' के प्रारंभमें सिद्धसेनसूरिकी स्तुतियोंकी प्रशंसा करके उनके सामने अपनी कृतिको 'अशिक्षिता-लापकला' बतलाया है ।

इन प्रमाणोंसे यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि सिद्धसेनदिवाकर प्रखर वादी भी थे और महाकवि भी थे । पुराणस्मृत सिद्धसेन भी वादी और कवि थे । परन्तु दिगंबर संप्रदायका साहित्य इस विषयमें बिलकुल चुप है कि वे कौन थे और कब हुए हैं । यह भी संभव नहीं कि ऐसे सामर्थ्यवान् महात्माको समाज विस्मृत कर दे । यदि सिद्ध-

सेन दिगंबर संप्रदायमें हुए होते और पुराणोल्लिखित विशेषण उनमें चरितार्थ होते, तो उनका कुछ न कुछ इतिहास दिगंबर साहित्यमेंसे अवश्य ही मिल आता । स्वामी कुन्दकुन्द, अकलंक, विद्यानंद आदि परमदिगंबर-आचार्योंके विषयमें, सत्य तथा कल्पित परंतु थोड़ा बहुत हाल मिल ही आता है । परंतु सिद्धसेनके विषयमें उक्त पुराणोंके सिवा, किसी विश्वसनीय ग्रंथमें, शायद नामोल्लेख भी न होगा । इससे यह अनुमान कि पुराणस्मृत सिद्धसेन, दिवाकरके अतिरिक्त और कोई नहीं; ठीक मालूम होता है । डा० सती-शचन्द्रका भी यही मर्त है ।

संभव है कि संप्रदायभेदके कारण बहुतसे पाठक हमारे इस निर्णयसे सहमत न होंगे । कारण कि पुराणकार दिगंबर संप्रदायके धुरंधर आचार्य थे और दिवाकर श्वेतांबर संप्रदायके प्रभावक पुरुष थे । (यद्यपि उस समय दिगंबर-श्वेतांबरका भेद नहीं हुआ था; परंतु उनकी कृतियाँ और जीवन-वार्तायें श्वेतांबर संप्रदायमें अधिक प्रचलित होनेके कारण वे श्वेतांबर माने गये हैं ।) दिगंबर संप्रदायके आचार्योंद्वारा, श्वेतांबरीय आचार्यकी इस प्रकार प्रशंसा किया जाना, यह आजकलकी परिस्थितिके अवलोकनसे तो असंभवसा प्रतीत होता है; परंतु पूर्व-

१-जिनसेनसूरिने अपने आदिपुराणमें (ई० सन् ७८३ में) सिद्धसेन दिवाकरका-जो कि श्वेतांबर संप्रदायके थे-जिक किया है । (जनहितैषी, भा० ९ अं० ३)

कालीन इतिहासका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करनेसे मालूम होता है कि उस समय यह हाल न था। उस समयके विद्वान् गुणानुरागी अधिक होते थे। सांप्रदायिक आग्रहसे वे इतने लिप्त न थे जितने कि अर्वाचीन कालमें देखे जाते हैं। संप्रदायान्तरके गुणी पुरुषोंका भी उचित आदर पूर्वके विद्वान् किया करते थे। दिगंबर साहित्यका विशेषालोकन न होनेके कारण हम कह नहीं सकते कि उसमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं या नहीं; परंतु, श्वेतांबर-साहित्यमें तो ऐसे माध्यस्थ्यसूचक अनेक दृष्टांत दृष्टि-गोचर होते हैं। हरिभद्र और हेमचंद्र जैसे श्वेतांबरशिरोमणि आचार्योंने भी अपने ग्रंथोंमें अनेक स्थलों पर

‘ तथा चोक्तं महात्मना व्यासेन । ’

(अष्टक ४-९.)

‘ तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः । ’

(योगदृष्टिस० १००)

‘ भगवता महाभाष्यकारेणावस्थापितम् । ’

(काव्यानुशासन, अध्या० ३.)

इस प्रकारके बहुमानदर्शक वाक्योंद्वारा वेदव्यास और पतञ्जलि जैसे वैदिकाचार्योंकी भी प्रशंसा की है। परमार्हत महाकवि श्रीधनपालने अपनी तिलकमंजरी-आख्यायिकाकी पीठिकामें अनेक वैदिक कवियोंकी स्तुति की है। आसमीमांसाके रचयिता स्वामी समन्तभद्रकी स्तुतिके अनेक पद्य श्वेतांबर ग्रंथोंमें यत्र तत्र मिलते हैं। स्वयं

श्रीमद् यशोविजयोपाध्याय जैसे तार्किकने भी—जिनका अस्तित्व ऐसे समयमें था कि जब सांप्रदायिक विरोध चरम-शिखर उपर चढ़ा हुआ था—अपने ग्रंथोंमें इस प्रकारके कृतज्ञतासूचक वाक्य लिखकर अपना गुणानुरागत्व स्पष्ट प्रकट किया है। प्रवचनसारके रचयिता परम दिगंबराचार्य स्वामी कुंदकुंदको, उन्होंने एक जगह महर्षिके महत्त्वदर्शक विशेषणसे उल्लिखित किया है और अपने कथनकी पुष्टिमें प्रवचनसारकी एक गाथाको उद्धृत किया है। उपाध्यायजीका समय ऐसा विग्रह-पूर्ण था कि उस समयके बहुत से विद्वान् समान सिद्धांतवालोंको भी—अपने ही समुदायके अवांतरभेद—शाखाविशेष-वालोंको भी तुच्छ शब्दोंसे स्मरण किया करते थे; तो फिर दिगंबर जैसे विभिन्न संप्रदायके परम पोषक आचार्योंको श्वेतांबर-समाजका एक महान् नेता, ‘ महर्षि ’ की महती उपाधिसे उल्लिखित करे, यह श्रद्धासक्त सांप्रदायिकोंकी दृष्टिमें कैसे ठीक जंच सकता था? उपाध्यायजी इस बातको अच्छी तरह जानते थे, अतः उन्होंने उस जगह ऐसा मार्मिक उल्लेख कर दिया कि जिससे किसीको ‘ ननु-नच ’ करनेका मौका ही न मिले। लिखा है कि—

“ न चैतद्वाथाकर्तुर्विगंबरत्वेन महर्षित्वाभिधानत्वं न निरवद्यमिति मूढधिया शङ्कनीयं, सत्यार्थकथनगुणेन व्यासादीनामपि हरिभद्राचार्यैस्तथाभिधानादिति दृष्टव्यम् । ” (योगवतारद्वात्रिंशिका, २०)

पाठक इन उल्लेखोंसे समझ सकते हैं कि उच्चकोटिके विद्वान् सांप्रदायिक दुराग्रह-के फंदेमें नहीं फँसे रहते हैं । वे सत्यके उपासक होते हैं, अतः उन्हें जहाँ कहीं सत्य दिखाई देता है, वे झट उसे अपना लेते हैं । वे सत्यका प्रकाशन और गुणी पुरुषोंका गुणगान सदा ही किया करते हैं । जो व्यक्ति जितनी योग्य होती है उसका उतना आदर, वे अवश्य करते हैं । चाहे वह फिर स्व-संप्रदायकी हो या परसंप्रदायकी । इससे जिनसेन जैसे उच्चतर विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर जैसे जैन-प्रभावककी—श्वेतांबर होनेपर भी—प्रशंसा और स्तवना करें तो इसमें कोई आश्चर्य या असंभवता नहीं । सिद्धसेनकी एक कृतिहीको—कल्याणमंदिर-स्तोत्रको—दिगंबर समाजने अपना लिया है । वह उसका नित्य पाठ करती है । इसके अंतमें जो कुमुदचंद्र नाम है वह दिवाकर-हीका है, यह प्रमाणोंसे निश्चित हो सकता है ।

पाठक, हमारे जो विचार थे वे हमने आपके सम्मुख रख दिये । यदि इस विषयमें अधिक खोज करने पर, युक्तिद्वारा यह सिद्ध हो जाय कि पुराणस्मृत सिद्धसेन, दिवाकर सिद्धसेनसे भिन्न हैं तो हमें इसमें कोई आग्रह नहीं । हम अपने विचारको परिवर्तित कर सकते हैं । विद्वान् वही कह-लाता है जो युक्तिके अनुकूल अपने विचारोंको चलाता है, न कि विचारानुकूल युक्ति-को खींचनेवाला । हरिभद्रसूरिने लिखा है कि—

आग्रही बत निनीषति युक्ति,
तत्र, यत्र मतिरस्य निर्विघ्ना ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति-
यत्र, तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

सम्पादककीय नोट—यद्यपि अभी इस बातके सिद्ध करनेके लिए और भी पुष्ट प्रमाणोंकी जरूरत है कि आदिपुराण और हरिवंशपुराणमें जिन सिद्धसेनका उल्लेख किया गया है वे न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनदिवाकरसे भिन्न नहीं हैं । अभी तक यह बात केवल अनुमानसे सिद्ध की गई है । खोजनेसे दिगम्बरसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें शायद इनका विशेष परिचय मिल जाय और उससे सिद्ध हो जाय कि वे दिगम्बरप्रदायके ही थे । तो भी, जब तक ऐसा सिद्ध न हो जाय तब तक मुनि महाशयका यह कथन ठीक जान पड़ता है कि सिद्धसेन दिवाकर उस समय हुए हैं जब जैनधर्ममें दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद ही न हुए थे । विक्रमकी सभाके नौ रत्नोंमें जिन 'क्षपणक' का उल्लेख है, वे 'सिद्धसेन दिवाकर' को छोड़ अन्य नहीं हो सकते । सिद्धसेनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें भी शायद कोई ऐसी बात नहीं है जिसे केवल दिगम्बर या श्वेताम्बर ही मानते हों । उनके ग्रन्थ दोनों सम्प्रदायका एकरूपसे कल्याण कर सकते हैं । संभव है कि उनके ग्रन्थोंका प्रचार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ही विशेष रहा हो और इस कारण वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके ही आचार्य गिने जाने लगे हों । इधर दिगम्बरोंमें उनके ग्रन्थोंका प्रचार न रहनेसे वे उन्हें भूल गये हों और इस कारण उनके साहित्यमें उनका विशेष उल्लेख न मिलता हो—केवल भगवज्जिनसेन जैसे परिचितोंने ही उनका स्मरण किया हो । यह भी संभव है कि भगवज्जिनसेनने उनके अविरोधी ग्रन्थोंपरसे उन्हें दिगम्बर समझकर, अथवा श्वेताम्बर समझकर भी 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' की उदार नीतिके अनुसार स्मरण किया हो ।

मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ।

ले०-श्रीयुत सय्यद अमीर अली (मीर)

दयानिधे, हे अन्तर्यामी । परमपूज्य सब जगके स्वामी ॥
यद्यपि दिखते नहीं कहीं हो । सच पूछो तो कहाँ नहीं हो ? ॥

गावें सब मिल दो, वरदान ।
मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १

भेद-बुद्धि हम जावें भूल । सभी हमारे हों अनुकूल ।
करें न नाहक बैर- विवाद । समझें पातक पर-अपवाद ॥

मूल मंत्र यह लेवें मान ।
मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ २

हिन्दू-बौद्ध-जैन हों आर्य्य । चाहे ब्रह्मो-यवन-अनार्य्य ॥
चाहे भारतीय ईसाई । समझें आपसमें सब भाई ॥

सुधामयी मिल छेड़ें तान ।
मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ३

जननी जन्म-भूमि है एक । उसके हम सब पुत्र अनेक ॥
पालें अपना अपना धर्म । रहें समझते लेकिन मर्म ॥

और रखें मनमें अभिमान ।
मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ४

ऊँच-नीच गुणहीमें मानें । सबको अपना भाई जानें ॥
सबके सुखदुखको निज मानें । व्यर्थ बातको कभी न तानें ॥

पढ़ें मंत्र कल्याणनिधान ।
मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ५

विद्याका खोलें भण्डार । उस पर तन-मन दें बलिहार ॥
चाहे पढ़ने जायँ विदेश । भूलें पर नहीं यह उपदेश ॥

‘मैं भारतका हूँ सन्तान ।
मेरा प्यारा हिन्दुस्तान’ ॥ ६

कहते हैं ऐसा विद्वान । नहीं एकका हिन्दुस्तान ॥
 इस पर सबका स्वत्व समान । हिन्दू किंवा हो कृस्तान ॥
 सब मिल गाओ मङ्गलगान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ७

विधवा बाल अशक्त अनाथ । इन सबका पकड़ें हम हाथ ॥
 अन्न-वस्त्रका देवें दान । और सिखावें जीवन-ज्ञान ॥
 जिससे उन्हें रहे यह ध्यान—
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ८

स्वावलम्बका हो अवलम्ब । पर-हितमें नहीं करें विलम्ब ॥
 भारत-जननीके हो दास । सेवें चरणकमल सुखवास ॥
 जपा करें यह मंत्र महान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ९

ऐसी सुमति वृद्ध नर पावें । कन्याओंका दिल न दुखावें ॥
 बूढ़ी विधवाओंको ब्याहें ! तभी योग यह लोग सराहें ॥
 बूढ़ी जोड़ी गावे गान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १०

करें न कोई बाल-विवाह । खूब पढ़ावें दे उत्साह ॥
 देश-भक्तिका हो अभिमान । आत्म-शक्तिसे हों बलवान ॥
 उनको ही यह निश्चय ज्ञान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ ११

करें स्वदेशी वस्तु पसन्द । कला-कुशलता पड़े न मन्द ॥
 करें नित्य नव आविष्कार । पावें फिर पहला सत्कार ॥
 तब कहनेका ही अभिमान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १२

मादक द्रव्योंका व्यवहार । छोड़ें, सीखें शिष्टाचार ॥
 दया-धर्मके हों अवतार । करें न हिंसा, पर-अपकार ॥
 भरे रहें इस ध्वनिसे कान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १३

सौत-द्वेषका भाव छोड़कर । श्री-वाणी सद्भाव जोड़कर ॥
 रहें यहाँ निज सदन बनाकर । बाहरके ले जायँ मनाकर ॥

ऐसा सुन्दर वास-स्थान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १४
 आधि-व्याधिका होवे नाश । रोग-शोकसे हो अवकाश ॥
 घर घरमें हो सौख्य-निवास । बाल-वृद्धमें सुमति-विकास ॥
 कहा करें हो बुद्धि-निधान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १५
 चमक जाय भारत-व्यापार । ग्राहक आकर सेवें द्वार ॥
 धान्य और धन हो भरपूर । फूट-काल-कण्टक हों दूर ॥
 हो कुबेर सा विभव-निधान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १६ ॥
 रत्न-प्रसूता धरा यहाँकी । वसुधा अति उर्वरा यहाँकी ॥
 स्वास्थ्य-दायिनी हवा यहाँकी । प्राण-दायिनी दवा यहाँकी ॥
 ऐसा है बल-गौरववान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १७
 सद्य दुग्ध-दधि-घृत मिलता है । धान्य वारि नियमित मिलता है ॥
 नाद यहाँ रत्नाकर करता । विमल सलिल नदियोंमें बहता ॥
 सब देशोंमें महिमावान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १८
 महज्जनोंकी लीला-भूमि । आत्म-ज्ञान, गुण-शीला भूमि ॥
 कश्चन-मणि-रत्नोंका आकर । सकल जगतके लिए सुधाकर ॥
 देता है सद्विद्यादान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ १९
 इसकी महिमा अकथ अमेय । उपमा स्वयं स्वयं उपमेय ॥
 देवगणोंका भी यह ध्येय । श्रेयोंसे भी उत्तम श्रेय ॥
 कल्प-वृक्ष सम देता दान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ २०
 दे इस नम्र विनय पर ध्यान । 'एवमस्तु' कह दो भगवान ॥
 जिससे सुधर जायँ सब काम । होवे 'मीर' देश सुख-धाम ॥
 गाया करे प्रजा यह गान ।
 मेरा प्यारा हिन्दुस्तान ॥ २१

जैनसिद्धान्तभास्कर ।

(समालोचना)

४

विक्रमादित्य संवत् ।

यह पाँच पृष्ठका लेख श्रीयुक्त बाबू परेश-चन्द्र बन्योपाध्याय एम. ए. का लिखा हुआ है और अपूर्ण है। जबतक यह पूरा प्रकाशित न हो जाय, तबतक इसके विषयमें विशेष कुछ नहीं कहा जासकता। इसमें यह सिद्ध करनेका प्रारंभ किया गया है कि विक्रमादित्य वास्तवमें हुए हैं और उन्होंने शकोंको पराजित करके ईसासे ५७ वर्ष पहले अपना संवत् चलाया है।

शाका सम्वत्की उलझन ।

दूसरी तीसरी संयुक्त किरणका यह लेख १६ पेजका है; परन्तु अपूर्ण है। आगे पूरा होगा या नहीं, भगवान् जानें। चौथी किरणमें तो सम्पादक महाशयने इसे पूरा करनेकी कृपा नहीं की, रही आगेकी किरणें, सो कब निक-लेगीं, इसका अनुमान करनेका हम जैसे इति-हासानभिज्ञोंको अधिकार नहीं। इस लेखका नाम तो है, 'शाकासंवत्की उलझन'; परन्तु इसमें विचार किया गया है 'विक्रमसंवत्' पर! ऐसा क्यों किया गया, यह शायद लेखके शेष भागमें बतलाया जाय। इस लेखमें अनेक देशी विदेशी विद्वानोंके मत देकर यह बतलाया गया है कि विक्रम या विक्रमादित्य नामका कोई राजा जिसने कि विक्रमसंवत् चलाया हो ईसासे ५७ वर्ष पूर्व—या अबसे लगभग १९००—२००० वर्ष पहले—हुआ ही नहीं है। कुछ राजा ऐसे अवश्य हुए हैं जिन्होंने

विक्रमकी उपाधि धारण की थी; परन्तु वे बहुत पीछे हुए हैं। इसके सिवाय आज तक जितने प्राचीन शिलालेख, दानपत्र, आदि मिले हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं है जिसमें विक्रम संवत्-की शुरुकी छह सात शताब्दियोंका उल्लेख हो। सबसे पहला लेख विक्रम संवत् ८९८ का है जिसमें संवत्के साथ विक्रमपद जुड़ा हुआ है। जब कि चन्द्रगुप्त, अशोक, कनिष्क, हुविष्क, खारवेल आदि प्राचीनसे प्राचीन राजाओंके लेख और उल्लेख मिलते हैं तब क्या कारण है कि विक्रमका उल्लेख नहीं मिलता? उनका उल्लेख नहीं मिलता है, इससे मालूम होता है कि ईसवी सन्से ५७ वर्ष पहले कोई विक्रमादित्य नामका राजा हुआ ही नहीं। प्रो० मेक्समूलर-का मत है कि उज्जैनीके राजा हर्ष विक्रमादि-त्यने ईस्वी सन् ५४४ में कोरूरके युद्धमें म्लेच्छों-को हराकर उस विजयके उपलक्ष्यमें अपना संवत् चलाया और इस नव स्थापित संवत्को उन्होंने ६०० वर्ष पहले माननेके लिए सबोंको बाध्य किया। कोई कहते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य था। किसीका मत है कि मालवगणका संवत् ही पीछे बदलकर विक्रम कर दिया गया। पर ईसाकी पाँचवीं छठी शता-ब्दिके पहले विक्रमादित्यको माननेके लिए कोई भी तैयार नहीं। सम्पादक महाशयको भी यही मत पसन्द है। वे लिखते हैं—“हम यह अवश्य कहेंगे कि इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि विक्रमादित्य ईसाकी छठी शताब्दिमें राज्य करते थे। इनके सामयिक बड़े बड़े कवि और

लेखकोंने जो अपने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख छोड़े हैं वे आज बड़ी पूज्य श्रद्धासे समाहृत होकर पढ़े जाते हैं।” इस विश्वासके कारण जिन एक दो विद्वानोंने विक्रमको ईसाके ५७ वर्ष पहले सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, उनका नाममात्र खण्डन भी सम्पादक महाशयने कर दिया है। पर हमारी समझमें विक्रमका अस्तित्व ईसासे ५७ वर्ष पहले सिद्ध करनेमें जो असफलता हो रही है उससे कहीं अधिक असफलता विक्रमको अपने समयसे सौ दो सौ या छह सौ वर्ष पीछे ले जानेमें हो रही है। इस बातका ठीक ठीक उत्तर कोई भी नहीं देता है कि जिस पिछले राजाने अपनी यादगार कायम रखनेके लिए अपने नामके संवत्को छह सौ वर्ष पहलेसे शुरू किया, उसने इसमें क्या लाभ सोचा होगा और उसकी इस आज्ञाको सारे देशने मान कैसे लिया होगा ? और इतना बड़ा पराक्रमी राजा ऐसे झूठे कृत्यमें प्रवृत्त ही क्यों हुआ ? उस समयके पहलेके और पीछेके अनेक राजाओंने अपने अपने संवत् अपने समयसे चलाये थे, फिर अकेले उसीने ऐसा क्यों किया ? इसमें उसको लाभ क्या था ? यदि कोई कहे कि अपना संवत् प्राचीन कहलाने लगे इस इच्छासे उसने ऐसा किया होगा, तो यह ठीक नहीं। यह कोई भी बुद्धिमान और यशोभिलाषी राजा नहीं चाह सकता कि मुझे लोग मेरे समयसे छहसौ वर्ष पहले मानने लगे। इससे तो उलटी उसकी वर्तमान कीर्तिका घात होता है। जब तक इस शंकाका समाधान न हो जाय, तबतक विक्रमादित्यका समय आजसे १९७२ वर्ष पहले ही मानना पड़ेगा। आज यदि शुरूकी शताब्दियोंके विक्रमसंवत्-सूचक लेख या ग्रन्थादि नहीं मिलते हैं तो क्या हुआ ? स्वर्ज हो रही हैं, अन्वेषण हो रहे

हैं, संभव है कि आगे कोई न कोई बलिष्ठप्रमाण मिल जावे और विक्रमादित्यका ठीक समय निश्चित हो जाय। अनेक विद्वान् इस समस्यापर विचार कर रहे हैं और सफलताकी ओर बहुत कुछ अग्रसर भी हुए हैं।

भगवज्जिनसेनाचार्य और कविवर कालिदास ।

भास्करकी प्रथम किरणमें सम्पादक महाशयने यह लिख मारा था कि जिनसेन और कालिदास समकालीन थे और कालिदासको नीचा दिखलानेके लिए जिनसेनने मेघदूत-वेष्टित पार्श्वभ्युदयकी रचना की थी। वास्तवमें यह एक भ्रम था, इस लिए सहयोगिनी सरस्वतीके सुविज्ञ सम्पादकने एक लेख लिखकर बतलाया कि यह निर्मूल कल्पना है। जिनसेन और कालिदास समसामयिक हो नहीं सकते। परन्तु इतिहासके महासागर सेठजी यह कैसे मान लें कि उनके गंभीर मस्तकमें रत्नोंके सिवाय कूड़े कर्कटको भी स्थान मिल सकता है ? बस, आपकी बुद्धिका ज्वार आगया और उसके परिणामरूप यह लेख प्रकाशित होगया। इसमें आपने यह बतलाया है कालिदास नामके कई कवि हुए हैं। एक कवि विक्रमादित्यकी सभाका रत्न बतलाया जाता है; परन्तु विक्रम नामके किसी राजाका छठी शताब्दिके पहले पता ही नहीं लगता। अत एव कालिदास भी छठी शताब्दिके बादका कवि है। पाठकोंको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि इसके पहलेका विक्रम संवत् सम्बन्धी लेख भी इसी अभिप्रायसे लिखा गया है कि कालिदासको किसी तरह ईस्वी सन्के पहलेका सिद्ध न होने दिया जाय। कालिदासके समयनिर्णयके सम्बन्धमें आपने देशी विदेशी ३४ विद्वानोंके मतोंका

उल्लेख किया है और उसका यह निष्कर्ष निकाला है कि कालिदासके समयके सम्बन्धमें जब विद्वानोंकी इस तरह भिन्नभिन्न कल्पनायें हैं, तब हमारी कल्पना निर्मूल क्यों ? यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि उक्त ३४ मतोंमें 'मत' कहने योग्य तो दो चार ही हैं, शेष सब उनके अनुवादक, अनुधावक अथवा उन्हींकी बातको प्रकारान्तरसे कहनेवाले हैं। कुछ लोग भास्करसम्पादकके समान ऊँटपटाँग हाँकनेवाले भी हैं ! आपने ऐसे लोगोंके भी मत दे डाले हैं जो कालिदासको भोजप्रबन्धके आधारसे ग्यारहवीं शताब्दिका कवि मानते हैं ! दें क्यों नहीं, मतोंकी संख्या अधिक दिखलाकर लोगोंको भय ही तो दिखाना है; परन्तु यह मालूम न हुआ कि कालिदासके समयके विषयमें मतान्तर दिखलानेसे कालिदास और जिनसेनकी समकालीनता कैसे सिद्ध हो गई ! १०-११ पेज रंग डाले; पर यह एक जगह भी नहीं लिखा कि उक्त दोनों विद्वानोंका समय एक कैसे हो सकता है। पहली किरणमें आपने प्रतिज्ञा की थी कि "अगामी किरणमें हम दोनोंकी समकालीनता पूरे प्रमाणके साथ सिद्ध करेंगे" (पृष्ठ ४६)। परन्तु इस लेखमें तो वे पूरे प्रमाण पेश नहीं किये गये। इसके बाद चौथी किरण भी निकल गई, परन्तु उसमें भी नदारद। सच तो यह है कि न समकालीनता सिद्ध हो सकती है और न आप कर सकते हैं। कुछ लोग ऐसे पुरुषार्थी होते हैं जो अपनी असत्य कल्पना पर भी अपनी योग्यताकी जिला चढ़ाकर कुछ समयके लिए सत्यके सदृश दिखला देते हैं; परन्तु अफसोस है कि आप यह भी नहीं कर सकते हैं ! साथ ही बड़े ही दुःखकी बात यह है कि आप अपने भ्रमको स्वीकार करनेकी भी शक्तिको खो बैठे हैं !

जिनसेनस्वामीने पाश्र्वभ्युदय काव्यकी रचना अमोघवर्ष प्रथमके समयमें की है और अमोघवर्षका राज्यकाल शक संवत् ७३७ या ईस्वीसन् ८१५ से आरंभ होता है। अतः पाश्र्वभ्युदय ८१५ से पहलेका नहीं हो सकता। इस बातको भास्करसम्पादक भी मानते हैं। अब इसके साथ कालिदासके समयको मिलाइए।

१ यदि विक्रमको छठी शताब्दिमें ही मानें, तो भी उनकी सभाका रत्न कलिदास दो सौ वर्षके बाद अमोघवर्षकी सभामें उपस्थित नहीं हो सकता।

२ बीजापुर जिलेके आयहोली ग्रामके जैन मंदिरमें जो जैन रविकीर्तिका शिलालेख है, वह शक संवत् ५५६ या ईस्वी सन् ६३४ का लिखा हुआ है और इसमें किसीको सन्देह भी नहीं है। ये रविकीर्ति अपनेको कालिदास और भारविके समान कीर्तिशाली कवि बतलाते हैं — 'स जयति कविरविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः'। इससे सिद्ध है कि कालिदास ईस्वी सन् ६३४ से भी पहले हो चुके थे, अतः उनके साथ जिनसेनका साक्षात् कदापि नहीं हो सकता।

३ बाणभट्टने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य हर्षचरितमें कालिदासका उल्लेख किया है और बाणभट्टका समय ईसाकी छठी शताब्दिका अन्त और सातवींका प्रारंभ माना जाता है। इस विषयमें किसीका मतभेद भी नहीं है। अतः कालिदासका समय छठी शताब्दिसे पहले निर्विवाद है जो जिनसेन स्वामीसे कई सौ वर्ष पहले चला जाता है।

४ यह ठीक है कि कालिदास नामके कई कवि हो गये हैं; परन्तु मेघदूतके कर्ता कालिदासका समय तो छठी शताब्दिके बाद जाही

नहीं सकता और इस कारण जिनसेनसे उनका साक्षात् होना असंभव है।

५ योगिराज पण्डिताचार्य चौदहवीं शताब्दि के बादके विद्वान् हैं। उनकी उस कथापर विश्वास नहीं किया जा सकता जिसमें वे कालिदास और जिनसेनका साक्षात् हुआ बतलाते हैं। जिनसेन जैसे ऋषि विद्वान् यह निरी मिथ्या बात कभी नहीं कह सकते कि मेघदूतकाव्य पुराने काव्यमेंसे चुराया गया है। जैनधर्मकी प्रभावना इस तरहके छलसे कदापि नहीं हो सकती और न ऐसी प्रभावनाको पण्डिताचार्य और सम्पादकाचार्य पद्मराजजीको छोड़कर और कोई ठीक ही मान सकता है। पार्श्वभ्युदयके अन्तके दो श्लोकोंमें जिनसेन स्वामी स्वयं यह बात स्वीकार करते हैं कि इस पार्श्वकाव्यको मैंने मुनिराज विनयसेनकी प्रेरणासे कालिदासके मेघदूतकाव्यको वेष्टित करके बनाया है। उन्होंने यह तो कहीं नहीं कहा कि मैंने कालिदासका गर्व गलित करनेके लिए इसकी रचना की है! अतः दोनोंके साक्षात्की कथा पण्डिताचार्यजीकी मनगढ़न्त कल्पना है और यह उसी प्रकारकी है जैसी कल्पनायें बल्लालकविने अपने भोजप्रबन्धमें कालिदाससे लेकर अपने समयतकके तमाम बड़े बड़े कवियोंको भोजकी सभामें उपस्थित करके की है।

यह समकालीनता सम्बन्धी लेख भी अधूरा है जो चौथी किरणके निकल जानेपर भी पूरा नहीं किया गया है। जान पड़ता है सेठजी अभीतक समकालीनताके पूरे प्रमाण संग्रह नहीं कर सके हैं!

भारतवर्षीय प्राचीन शिल्पकला

इस तीन पेजके अधूरे लेखमें—जो अभीतक पूरा नहीं किया गया है—भारतके प्राचीन शिल्प-

की प्रशंसाके गीत गाये हैं। गीत इस लिए कि इस लेख भरमें प्रशंसा और संस्कृत शब्दोंकी भरमारके सिवाय विशेष तथ्यकी बात कोई नहीं है। शिल्पकलाका जनक भारतवर्ष ही है, वेदादि ग्रन्थोंमें मूर्तिपूजाका स्पष्ट उल्लेख है, आदि बातोंके लिए प्रमाण देनेकी ज़रूरत थी जो नहीं दिये गये।

परिशिष्ट शिलालेख।

यह एक शिलालेख है। इसका लेखक मंगराज नामका प्रसिद्ध कवि है जो शक संवत् १३५५ के लगभग हुआ है। 'कर्नाटककविचरित' के लेखानुसार वह होयसल देशान्तर्गत कल्लहाडि राज्यके स्वामी विजयेन्द्रका पुत्र था। कनडीमें इसके बनाये हुए छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उसके बनाये हुए इस लेखमें सब मिलाकर ७८ पद्य हैं जो बहुत ही सुन्दर शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार दोनोंसे युक्त हैं। 'इन्कपूशन एट् श्रवणबेलोल' नामक पुस्तक पर से यह उद्धृत किया गया है। कविने इसे श्रुतकीर्ति, चारुकीर्ति, पण्डितयति, और श्रुतमुनि इन चार प्रसिद्ध विद्वानोंकी यादगार कायम रखनेके लिए लिखा है। प्रारंभके २१ श्लोकोंमें महावीर भगवान्से लेकर अकलङ्कसुरितकके मुख्य मुख्य आचार्योंका उल्लेख किया गया है और इसके बाद अन्ततकके श्लोकोंमें पूर्वोक्त चार मुनियोंकी प्रशंसा और उनके समाधि-मरणका उल्लेख है। अन्तिम श्रुतमुनिकी निषद्या या समाधिस्थलपर यह लेख संभवतः अब भी मौजूद है। यदि सिद्धान्तभास्करके सम्पादक महाशय इस लेखके विषयमें इतना सा परिचय भी दे देते, तो भास्करके हिन्दीपाठक उनके बड़े ही कृतज्ञ होते। परन्तु वे ऐसा क्यों करने लगे? भयंकर घटाटोप दिखलानेके सिवाय उनका

और कोई लक्ष्य भी हो तब न ! पाठक कुछ लाभ उठावें या नहीं, इससे उन्हें मतलब नहीं । हमारे पाठक कहेंगे कि लेखका हिन्दी भावानुवाद भी तो साथहीमें दे दिया है, फिर और परिचय देनेकी क्या आवश्यकता थी ? उत्तर यह है कि वह भावानुवाद आपके पूर्वपरिचित काव्यतीर्थ पं० हरनाथ द्विवेदीका किया हुआ है । तब यह आशा कैसे की जा सकती है कि उसको बेचारी हिन्दीके पाठक समझ लेंगे !

अनुवादके विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक हरिश्चपुराण और पद्मपुराणकी प्रशस्तिके अनुवादमें काव्यतीर्थजीके अनुवाद-कौशलका नमूना देख चुके हैं । ठीक वैसा ही ऊँटपटौंग, असम्बद्ध, अनर्थक और मूर्खतापूर्ण अनुवाद इस लेखका भी हुआ है । यह तो किसी तरह समझमें भी नहीं आता कि कवि किसका वर्णन कर रहा है । जहाँ जहाँ मूलमें यस्य, तस्य, यः, सः आदि सर्वनाम आये हैं अनुवादमें उनको 'जिसके, तिसके, जो, सो' आदि पर्यायवाची शब्द धर दिये हैं; परन्तु यह स्पष्ट करनेकी कृपा कहीं भी नहीं की है कि 'वह' या 'वे' कौन हैं जिनका वर्णन हो रहा है । कोई कोई पद्य बहुत ही साधारण हैं; परन्तु उनके अनुवादमें भी गोलमाल किया गया है । इस विषयमें अधिक न कहकर अब हम अनुवादके दो चार नमूने देकर इस विषयकी आलोचनाको समाप्त करेंगे ।

१९ वें श्लोकमें अकलंकदेवका स्वर्गगमन वर्णन करके और यह कह करके कि उनके अन्वयमें देवनन्दि आदि संघ हुए कवि कहता है:—

स योगिसंघश्चतुरप्रभेदाना-
साद्य भूयानविरुद्धवृत्तान् ।
बभावयं श्रीभगवान्जिनेन्द्र-
श्चतुर्मुखानीव मिथस्समानि ॥

इसका अर्थ यह है कि "वह बड़ाभारी मु-
निसंघ, अविरुद्ध आचरणवाले चार भेदोंके
कारण ऐसा शोभित हुआ जैसे भगवान् जिनेन्द्र
अपने परस्पर समानरूप चार मुखोंके कारण
शोभित होते हैं ।" कविका भाव यह है कि यद्यपि
दर्शन करनेवालोंको जिन भगवान्के चारों ओ-
रसे बिलकुल एक सरीखे चार मुख दिखलाई
पड़ते हैं; परन्तु वास्तवमें उनका एक ही मुख
होता है । उसी तरह वह मुनियोंका संघ यद्यपि
देव, नन्दि, सिंह, सेन इन चार भेदोंमें बँट
गया, परन्तु वास्तवमें उसका चारित्रकी भिन्न-
तासे रहित एक ही रूप था ।

इसका अर्थ काव्यतीर्थ महाशय इस प्रकार
करते हैं— "इसके बाद श्रीमान् योगी जि-
नेन्द्र भगवान् अविरुद्ध वृत्तिवाले चार संघोंको
पाकर परस्पर समान चार मुखके ऐसे उन्हें
समझकर शोभने लगे ।" मालूम नहीं अकलं-
कके समयमें ये योगी जिनेन्द्र भगवान् कहाँसे
और कैसे आ गये ! सेठ पद्मराजजीको यह
ऐतिहासिक तत्त्व अवश्य मालूम हांगा ।

श्रीमान् श्रुतमुनिकी प्रशंसामें कवि कहता है:—

का त्वं कामिनि कथ्यतां
श्रुतमुनेः कीर्तिः किमागम्यते ।
ब्रह्मन्मत्प्रियसन्निभो
मुनिबुधः संमृग्यते सर्वतः ॥
नेन्द्रः किं स च गोत्रभिद्-
धनपतिः किं नास्त्यसौ किन्नरः ।
शेषः कुत्र गतः स च द्विःशानो
रुद्रः पशूनां पतिः ॥ ५२ ॥

अर्थात्—"ब्रह्माजीने किसी स्त्रीको आई हुई देखकर
पूछा—हे कामिनि, कह तू कौन है ? (उत्तर)
मैं श्रुतमुनिकी कीर्ति हूँ । (प्रश्न) यहाँ क्यों
आई है ? (उत्तर) हे ब्रह्मन्, मैं अपने प्यारेके
सदृश विद्वानको सब और ढूँढती फिरती हूँ ।

(प्रश्न) क्या तेरे प्यारे श्रुतमुनिके समान इन्द्र नहीं है ? (उत्तर) नहीं, वह तो गोत्रभिद्र (पर्वतोंका हनन करनेवाला) है । (प्रश्न) क्या कुबेर भी उसके सदृश नहीं है ? (उत्तर) नहीं, वह तो किन्नर (कुत्सित नर) है । (प्रश्न) तो फिर शेष (धरणेन्द्र) कहाँ गया ? वह तो उसके सदृश होगा ? (उत्तर) नहीं, वह तो द्विजिह्व (दो जीभोंवाला या चुगल) है । (प्रश्न) और महादेव ? (उत्तर) वह तो पशुपति है । ”

अब इसका काव्यतीर्थका किया हुआ, गोल-माल, वेदभाषामें लिखा हुआ भावार्थ भी पढ़-लीजिए:—“ हे कामिनि ! तू कौन है ? क्या श्रुत-मुनिकी कीर्ति तू इधर आ रही है ? क्या तू इन्द्र है, नहीं यह तो गोत्रभिद्र है । कुबेर तो नहीं है ? किन्तु यह किन्नर नहीं मालूम पड़ता है । ब्रह्मन् ! मैं अपने ऐसे किसी विद्वान् मुनिको चारों तरफ़ खोज रहा हूँ । ” लीजिए, अन्ततक पहुँचते पहुँचते द्विवेदीजीकी कृपासे वह कामिनि पुरुष बन गई और अपने सदृश मुनिको ढूँढ़ने लगी । धन्य अनुवादकजी ! और धन्य सम्पादकजी ! !

श्रीचारुकीर्ति मुनि जब बीमार हुए और इस कारण उन्होंने समाधिमरण करनेका निश्चय किया, उस समयका वर्णन करते हुए कवि कहता है:—

एषां शरीराश्रयतोऽपि वातो
रुजः प्रशान्तिं विततान तेषाम् ।
बल्लालराजोत्थितरोगशान्ति-
रासीतिरुल्लैतत्किमु भेषजेन ॥ ३०
मुनिर्मनीषाबलतो विचारितं
समाधिभेदं समवाप्य सत्तमः ।
विहाय देहं विविधापदां पदं
विवेश विव्यं वपुरिन्द्रवैभवम् ॥ ३१

अर्थात्—जिनके शरीरको छूकर जानेवाली हवा भी रोगको शान्ति कर देती है—क्योंकि एक बार बल्लाल नरेशके शरीरमें जो रोग उठा था, वह इसी तरह शान्त हो गया था—उनको बतलाइए कि दवाईसे क्या लाभ होगा ? अभिप्राय यह कि जिनका शरीर ही दवाईरूप था, उन्हींको जब रोग हो गया है, तब और दवाई क्या काम देगी ? ॥ ३० ॥ मुनिमहाराजने बुद्धिबलसे विचार किया कि अब समाधिमरण करना ही श्रेयस्कर है, अर्थात् यही सबसे बड़ी ओषधि है और तब समाधिपूर्वक उन्होंने अपने रौगादि आपत्तियोंके स्थान शरीरको छोड़कर विभव-शाली देवशरीरको प्राप्त किया । अर्थात् चारु-कीर्ति स्वामीका स्वर्गवास हो गया ।

३० वें पद्यमें जिन बल्लालनरेशका उल्लेख है, वे विष्णुवर्धन राजाके भाई थे । कर्नाटक कविचरितसे मालूम होता है कि वे चारुकीर्ति पण्डिताचार्यके समकालीन थे ।

अब इन पद्योंकी हरनार्थी या काव्यतीर्थी टीका देखिए:—“ जिनके शरीरके सम्पर्क मात्र हीसे वा सब किसीके रोगोंको शान्ति हो जाती थी । लोग कहा करते थे कि बल्लालराजकी कृपासे रोग छूटा है, दवासे क्या ? मुनिने समाधिपूर्वक अनेक आपदका स्थान इस विनश्वर शरीरको छोड़कर दिव्य शरीरको पाया । ” इससे बढ़कर अनुवाद और कौन कर सकता है ? कवि मुनिकी कृपासे रोग छूटना बतला रहा है; पर अनुवादक राजाकी कृपासे रोग छुड़ा रहे हैं । दोनों पद्योंका अनुवाद आपने तीन वाक्योंमें किया है, पर क्या मजाल जो एक वाक्य दूसरे वाक्यसे ज़रा भी सम्बन्ध रखता हो ! द्विवेदीजीका प्रत्येक वाक्य वर्णाश्रम धर्मका पालन करता हुआ नजर आता है ! !

अनुवादकी सूबियाँ दिखलानेके लिए इससे अधिक स्थान रोकना अच्छा नहीं । जो पाठक संस्कृत जानते हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे इस शिलालेखके अनुवादका प्रत्येक वाक्य मूलसे मिलान करके देखें और द्विवेदीजीके पाण्डित्यकी तथा सेठ पद्मराजजीके प्रचण्ड सम्पादकत्वकी प्रशंसा करनेका पुण्य सम्पादन करें ।

दूसरी तीसरी किरणकी समालोचना समाप्त हो चुकी । इस किरणके प्रायः सब ही लेखोंपर हम विचार कर चुके । सम्पादकीय टिप्पणी और पुस्तक पर्यवेक्षण लेखोंपर विचार करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती । आगामी अंकसे भास्करकी अन्तिम किरणकी आलोचना शुरू होगी ।



वस्तु नीचे क्यों गिरती है ?

लेखक—श्रीयुक्त बाबू निहालकरणजी सेठी एम. एस. सी.

विद्यार्थी—मास्टर साहिब, सब कोई कहते हैं कि जड़ पदार्थ बिना किसीकी सहायताके अथवा बिना बलके एक स्थानसे दूसरे स्थान तक नहीं जा सकता—यह बात कुछ ठीक नहीं जान पड़ती । यह पैसिल हाथमेंसे छोड़ देने पर अपने आप ही नीचे गिर पड़ती है, इसको तो कोई सहायता नहीं देता ।

मास्टर—नहीं, तुम भूलते हो । यह स्वयं नहीं गिर पड़ती । इसको नीचेकी ओर खसकनेमें अवश्य सहायता मिलती है । कोई न कोई निःसन्देह इस पर बल लगा कर इसे नीचेकी ओर खींचता है ।

वि०—बाह साहिब, कोई भी तो दिखलाई नहीं देता । इसके कोई तागा भी नहीं बँधा है जो कोई कहीं गुप्त स्थानसे बैठा बैठा खींच रहा हो और पिताजी इत्यादि सब

यही कहते हैं कि यह तो वस्तुका स्वभाव ही है कि नीचे गिर पड़े ।

मा०—अच्छा आज तुम्हें यही बात समझावेंगे । यदि वस्तुका स्वभाव ही नीचे गिर जानेका होता है तो गुब्बारा ऊपरको क्यों जाता है ? पक्षी आकाशमें कैसे उड़ते हैं ? पतंग क्यों घंटों वायुके मध्य डटा रहता है ?

वि०—गुब्बारा तो हलका होता है । पक्षी अपने पंरोंके बलसे उड़ते हैं और पतंगको हवा ऊपर स्थित रखती है ।

मा०—इसका तो अर्थ यह हुआ कि ऊपरकी ओर बल लगानेसे वस्तु ऊपरकी ओर भी जासकती है ।

वि०—इसमें तो कोई नई बात न हुई । जिधर बल लगावेंगे उसही ओर तो वस्तु चली जायगी ।

मा०—यह तो ठीक परन्तु यह बताओ कि ऊपरकी ओर उठानेके लिए कितने बलकी आवश्यकता है ?

वि०—यह तो मैं क्या जानूँ ?

मा०—इतना तो बतला सकते होकि यदि किसी वस्तुको ऊपर उठावें तब अधिक बलकी आवश्यकता होगी अथवा जब उसे समतल पत्थरपर रखकर खिसकावें ?

वि०—ऊपर उठानेमें अवश्य अधिक बल लगेगा, क्योंकि एक मन भारको मैं उठा तो नहीं सकता किन्तु खिसका अवश्य सकता हूँ।

मा०—जब पदार्थ वही है और उतनाही है फिर एक दिशामें बल लगानेसे खिसके और एकमें नहीं, इसका क्या कारण ?

वि०—मैं तो कुछ नहीं जानता।

मा०—अच्छा यही बतलाओ कि यदि दो सेर भारको ऊपर उठाकर हाथमें रखे रहो तो तुम्हें बल लगाना पड़ता है या नहीं ?

वि०—बल न लगावें, तो नीचे न गिर पड़े ?

मा०—तो बल लगानेपर भी वस्तु एक स्थानपर स्थित रह सकती है ? बल लगानेसे तो उसे जिधर बल लग रहा है उसही दिशामें खिसकना चाहिए। तुम ऊपरकी ओर बल लगा रहे हो परन्तु वह खिसकती नहीं, इससे यही स्पष्ट होता है कि नीचेकी ओर भी बल लग रहा होगा।

वि०—हाँ, यह बात तो ठीक जान पड़ती है। यहाँ जब रस्सा खिचवाया जाता है तब

लड़के दोनों ओरसे खींचते हैं; परन्तु जब तक बल बराबर होता है वह नहीं खिसकता और बहुत अधिक बल लगाने पर कुछ खिसकता है।

मा०—इसही प्रकार जब तक तुम ऊपरकी ओर इतना बल लगाओ जो नीचेकी ओरके बलसे कम हो तब तक तो वह वस्तु हिल नहीं सकती। हाँ, जब उससे अधिक बल लगाओ तब निःसन्देह उठ सकती है।

वि०—परन्तु यह तो बताइए कि नीचे कौन बल लगा रहा है ?

मा०—जब इतना समझे हो कि वस्तु पर नीचेकी ओर बल लग रहा है तो पैसिलका नीचे गिर पड़ना क्या आश्चर्यकी बात है ? हाँ, अब यह प्रश्न अवश्य है कि बल कौन लगा रहा है। क्या तुमने चुम्बक देखा है ?

वि०—हाँ, आपने उस दिन दिखलाया था। वह सुईको अपनी ओर खींच लेता है।

मा०—अर्थात् सुई पर वह अपनी ओर बल लगाता है।

वि०—अवश्य—नहीं तो सुई अपने स्थानसे हिलती ही क्यों ?

मा०—क्या चुम्बकमें और सुईमें किसी तार, तागे इत्यादिसे कुछ सम्बंध था ?

वि०—नहीं, वे तो सर्वथा पृथक् थे। चुम्बककी आकर्षणशक्ति ही सुईको खींच लेती थी।

मा०—फिर यदि इस वस्तु पर नीचेकी ओर बल लगता है अथवा यह नीचेकी

ओर आकृष्ट हो जाती है, तो क्या आश्चर्य है ?

वि०—परन्तु यह लोहेकी तो है नहीं और न नीचे कोई चुम्बक ही है ।

मा०—पृथ्वी भी एक प्रकारका चुम्बक है । उसमें विशेषता यह है कि वह प्रत्येक वस्तुको खींच लेती है; केवल लोहेहीको खींचे, यह बात इसमें नहीं ।

वि०—यह तो बड़ी विलक्षण शक्ति है । इस शक्तिके मान लेनेसे अवश्य वस्तुका नीचे गिरना तो समझमें आजाता है; परन्तु यही कारण है ऐसा अभी विश्वास नहीं होता ।

मा०—यदि और कुछ प्रमाण मिले तब तो विश्वास होगा ? अच्छा यह बताओ कि चुम्बक सुईको कितनी दूरसे खींच सकता है?

वि०—थोड़ी दूरसे अधिक दूरी होनेपर बल बहुत कम होजाता है और उस बलसे सुई नहीं खिंच सकती ।

मा०—तो ज्यों ज्यों उनका अंतर बढ़ता जाता है त्यों त्यों आकर्षणका बल घटता जाता है । यदि यही बात पृथ्वी और इस दो सेरकी वस्तुमें हुई तो ?

वि०—तब तो कुछ विश्वास होसकता है; परन्तु यह आप कैसे नापेंगे ? क्या कोई ऐसा मी स्थान है जहाँ पृथ्वीका आकर्षण न रहे ? वहाँसे छोड़नेपर वस्तु पृथ्वीपर न गिरेगी ?

मा०—नहीं, ऐसी जगह ढूँढनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, उसके बिना भी काम

चल जायगा । क्या तुम जानते हो कि स्प्रिंग-का कांटा (Spring Balance) किसे कहते हैं ?

वि०—वही एक सुईदार कांटा जिसपर लटकानेसे वस्तुका भार सुई बतला देती है ।

मा०—अच्छा यह लो काँटा, इससे इस वस्तुको तौलो तो ।

वि०—यह तो पूरे दो सेर है ।

मा०—अब इसे मंसूरी पहाड़पर ले जाकर इसी काँटेसे तौलें तो कितनी निकलेगी ?

वि०—इतनी ही दो सेर । वहाँ तौलो या यहाँ तौलो, फरक ही क्या है ?

मा०—नहीं, अवश्य कुछ कम निकलेगा ।

वि०—यदि कम होगा तब तो अवश्य पृथ्वीका आकर्षण पाया जायगा । अबकी बार जाऊँगा तब अवश्य तौल कर देखूँगा । परन्तु यदि वास्तवमें ऐसा ही है तो बड़ी अद्भुत बात है । यदि कोई व्यापारी यहाँसे वस्तु खरीदकर पहाड़ पर बेचे तो उसे तो तौलमें ही घाटा रह जावे ।

मा०—नहीं, घाटे जितना तो फरक कदाचित् ही निकले; परन्तु कम अवश्य निकलेगा यदि ऐसे ही काँटेसे तौलें ।

वि०—क्यों ? सोनेकीसी बहुमूल्य वस्तुमें तो थोड़ा अंतर भी बहुत है । परन्तु यह आपने क्या कहा ? क्या यह ऐसे ही काँटोंकी विशेषता है ?

मा०—नहीं, बात यह है कि साधारण तराजूमें वस्तुपर पृथ्वीका बल कितना है

यह नहीं नापसकते । केवल इस बलकी और बाँटों पर जो बल पृथ्वी लगाती है उसकी तुलना की जाती है । पहाड़ पर जानेसे इस वस्तुपर पृथ्वीका बल घट जायगा तो बाँटों-परका बल भी तो कम हो जायगा—उन दोनों-हीका भार घट जायगा और साधारण तराजूसे वे दोनों वहाँ भी बराबर निकलेंगे ।

वि०—अच्छा, इस काँटेमें एक ही वस्तुका भार नापा जाता है और तराजूमें एक वस्तुके भारकी बाँटोंके भारसे तुलना की जाती है । अब समझमें आया । किन्तु क्या भार भी घट बढ़ सकता है ?

मा०—जब भार पृथ्वीके आकर्षणके बलका ही नाम ठहरा तो उसके बदलनेमें क्या आश्चर्य है ? हाँ, वस्तु उतनीकी उतनी ही रहती है । दो सेर गेहूँके दाने गिनलो, पहाड़पर ले जानेसे दानोंकी गिनतीमें अंतर नहीं होगा—प्रत्येक दानेकी लम्बाई मुटाईमें भी अंतर न होगा; परन्तु भार अवश्य कम हो जायगा ।

वि०—जो परमाणु थे वे थोड़े ही कहीं चले जावेंगे, केवल दूरीके कारण पृथ्वीका आकर्षण कम हो जायगा । एक बात और बताइए । क्या जिसप्रकार सुई भी चुम्बकको अपनी ओर खींचती है, उसही प्रकार यह वस्तु भी पृथ्वीको अपनी ओर खींचती है ?

मा०—इसमें क्या संदेह है, यह तो संसारका नियम ही है । यदि कोई तुम्हें खींचता है तो तुम भी उसे खींचोगे । यदि तुम

किसीपर प्रेम रखोगे तो वह भी तुमपर प्रेम रखेगा ।

वि०—फिर पृथ्वी उसकी ओर क्यों नहीं जाती ?

मा०—सुईकी ओर चुम्बक क्यों नहीं आता ? क्या जिस बलसे यह वस्तु खिंच जाती है उतने ही बलसे पृथ्वीके समान बड़ी वस्तु भी खिंच सकती है ?

वि०—हाँ, सो तो सत्य है; परन्तु पृथ्वी तो इन्हीं लोहा पत्थर इत्यादिसे बनी है । फिर यदि यह वस्तु पृथ्वीको खींच लेती है तो लोहेके टुकड़ेको अथवा पत्थर इत्यादिको भी तो खींच लेगी ।

मा०—अवश्य ।

वि०—परन्तु ऐसा तो कभी सुना नहीं गया कि एक पत्थरका टुकड़ा दूसरे टुकड़ेको खींच ले ।

मा०—सुना नहीं गया, इसका कारण तो यह है कि ऐसी बारीक बात जाननेकी किसे फिक्र है ? इसके अतिरिक्त जब सारी पृथ्वीने बल लगाया तब तो इस वस्तुपर इतना बल लगा कि हम हाथसे उठा सकते हैं । यदि केवल एक छोटासा लोहेका टुकड़ा ही आकर्षण करे तो बताओ उसका बल कितना थोड़ा होगा ? इतना थोड़ा बल नापना साधारण मनुष्योंका कार्य नहीं ।

वि०—थोड़ा तो अवश्य होगा; किन्तु फिर भी क्या कोई उपाय नहीं ?

मा०—उपाय क्यों नहीं ? क्या वैज्ञानिक इतनीसी बातके लिए इस महान् प्रश्नको यहीं छोड़ देते ? कई प्रकारके प्रयोग किये हैं, परन्तु मैं तुम्हें सबसे सरल उपाय ही बतलाता हूँ ।

कोई दो दो फुट ऊँचे पत्थरोंपर एक बहुत बड़ा सीसेका टुकड़ा रक्खा गया । इसकी लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई लगभग पाँच पाँच फुटके थी । नीचेके दोनों पत्थर किनारेपर थे जिससे कि उन दोनोंके बीचमें बहुत जगह बच गई थी । इस सीसेके टुकड़ेके ऊपर ही एक बहुत अच्छी तराजू ऐसे लटकाई गई कि उसके पलड़े इस सीसेसे कोई दो इंच ऊपर रह गये । ठीक इन पलड़ोंके नीचे दो सूराख सीसेके टुकड़ोंमें कर दिये गये और उनमें होकर एक एक तार पलड़ोंसे लटका दिया गया । जहाँ ये तार सीसेसे टुकड़ेके नीचे निकले वहीं एक एक पलड़ा और बाँध दिया गया । इस प्रकार दो दो पलड़े इस तराजूकी दोनों ओर हो गये । एक एक तो सीसेके ऊपर और एक एक नीचे । इस अवस्थामें देख लिया गया कि तराजू ठीक है । अब एक ओरके ऊपरवाले पलड़ेमें एक लोहेका टुकड़ा रख दिया गया, और दूसरी ओरके नीचेके पलड़ेमें बाँट रक्खे गये और डंडी सीधी कर ली गई । अब लोहेके टुकड़ेको उठाकर नीचेके पलड़ेमें रक्खा और बाँटोंको ऊपर—तो मालूम हुआ कि बाँट अधिक भारी हैं—डंडी बाँटोंकी ओर झुक गई है ।

वि०—यह अंतर तो ऊपर नीचे ले जाने हीसे होगया होगा । इसमें सीसेके टुकड़ेने क्या किया ?

मा०—नहीं, सीसेके टुकड़ेको हटाकर यही प्रयोग करनेसे कुछ भी अंतर नहीं मालूम हुआ । केवल पाँच सात फुट ऊपर नीचे करनेसे भारमें इतना अंतर नहीं हो सकता ।

वि०—परन्तु इससे यह कैसे जान पड़ा कि सीसेका टुकड़ा लोहेके टुकड़ेको खींचता है ।

मा०—इस अंतरका कारण यही होसकता है कि जब लोहा ऊपर था तब सीसा उसे नीचे खींचता था और बाँटोंको ऊपर खींचता था । इस कारण लोहेपर जो नीचेकी ओर बल लग रहा था वह पृथ्वीके बलका और सीसेके बलका योग था । और बाँटोंपर जो बल नीचेकी ओर लग रहा था वह पृथ्वीके बलसे कुछ कम था; क्योंकि सीसा उन्हें ऊपरको खींच रहा था । इस प्रकार लोहेका भार कुछ अधिक होगया था और बाँटोंका कुछ कम । अर्थात् यद्यपि वास्तवमें (सीसा न होता तो) बाँट लोहेसे भारी थे तो भी बराबर जान पड़ते थे; परन्तु जब लोहेको नीचे रख दिया और बाँटोंको ऊपर, तब लोहेका भार कम होगया और बाँटोंका अधिक । बाँटोंका भार पहले ही अधिक था, अब तो अंतर द्विगुण होगया ।

वि०—युक्ति तो बहुत अच्छी है । इस प्रकार जितना अंतर मालूम होगा वह वास्त-

वमें सीसे और लोहेके बीच जो आकर्षण है उसका चौगुना हों जायगा। क्योंकि प्रथम बार लोहेका वास्तविक भार तो कम और बाँटोंका अधिक था, अंतर लोहे और सीसेके आकर्षणसे द्विगुण था और अंतिम अंतर इसका भी द्विगुण।

मा०—बहुत ठीक। देखा न बातकी बातमें चौगुणा करके नाप लिया। वैसे तो सीधा उपाय यह था कि साधारण तराजूके एक पलड़ेमें बाँट रखते और एकमें लोहेका टुकड़ा—बराबर करके लोहेवाले पलड़ेके नीचे सीसा रख देते, परन्तु ऐसा करनेसे अंतर इतना थोड़ा होता कि ऐसे तराजूसे नहीं नापा जा सकता था।

वि०—क्या ऐसा कोई तराजू नहीं बनाया गया जिससे इसे भी नाप लें ?

मा०—क्यों नहीं ? अब तो ऐसा अच्छा तराजू बन गया है कि जिसमें इतने बड़े सीसेके टुकड़ेकी भी आवश्यकता नहीं होती। बहुत छोटे छोटे टुकड़ोंका आकर्षण भी नापा जा सकता है।

वि०—वह तो बहुत आश्चर्यजनक तराजू होगा। हाँ, इससे तो यह प्रमाणित हो गया

कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक दूसरी वस्तुको अपनी ओर खींचती है; पृथ्वीहीमें कोई विलक्षणता नहीं।

मा०—वास्तवमें यही बात है। इस नियमके आविष्कर्त्ता महात्मा न्यूटनने इसे यों लिखा है—“संसारका प्रत्येक परमाणु प्रत्येक दूसरे परमाणुको अपनी ओर खींचता है।” इसे गुरुत्वाकर्षण कहते हैं। इतना जानकर वे चुप हो जाते यह उनके स्वभावके विरुद्ध था। उन्होंने इस सम्बंधी और भी नियम जान लिये और उन नियमोंद्वारा चंद्रमा तारे इत्यादिका आकाशमें विना सहारे स्थित रहना, नियत मार्गमें भ्रमण करना इत्यादि ज्योतिषसम्बंधी अनेक बातोंका पता लगा लिया और आज उनके दिये हुए हिसाब अक्षरशः सत्य प्रमाणित होकर जनसमाजको बहुत लाभ पहुँचा रहे हैं। जिस प्रकार तुम्हें पैसिल गिरने पर आश्चर्य हुआ उस ही प्रकार उन्हें वृक्ष परसे सेव गिरते देख आश्चर्य हुआ था, परन्तु अंतमें उस छोटीसी बातसे ही अज्ञान नष्ट करने में रात देखते आते थे—उन्होंने ऐसे विश्वव्यापी नियमका आविष्कार कर डाला।

कलम कहे कानमें।

कवि, श्रीयुत पं० गिरिधर शर्मा।

जड़से उखाड़के सुखाय डालें मोहि, मेरे
प्राण घोट डालें धर धुआँके मकानमें।
मेरी गाँठ काटें मोहि चाकूसे तराश डारें,
अंतरमें चीर डारें धरें नहीं ध्यानमें ॥

स्याही माहि बोर बोर करे मुख कारो मेरो,
करों मैं उजारो तो हूँ ज्ञानके जहानमें।
परे हूँ पराये हाथ तजौं न परीपकार,
चाहे घिस जाऊँ यों कलम कहे कानमें ॥

स्त्री-संस्कार ।

भारतीय समाजोंमें किसी समय स्त्रियोंका भी एक विशिष्ट स्थान था और वे बहुत ही आदरणीय समझी जाती थीं । यत्र नार्थस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । जहाँ स्त्रियोंका आदर होता है वहाँ देव निवास करते हैं । इत्यादि वाक्योंसे—जो यहाँके प्राचीन साहित्यमें मिलते हैं—इस बातकी अच्छी तरह पुष्टि होती है । स्त्रीपुरुषकी अर्द्धांगिनी, सहधर्मिणी, सहचारिणी मानी गई है, इससे भी उसके अधिकार और आदरकी कल्पना हो सकती है । परन्तु अब वह बात नहीं रही है । इस समय स्त्रीकी प्रतिष्ठा 'पैरोंकी जूती'से बढ़कर नहीं है । अपने आदरणीय स्थानसे पतित होकर अब वह पुरुषोंकी केवल दासी है । पुरुषोंको अधिकार है कि वे स्त्रियोंपर चाहे जैसे अत्याचार करते रहें; उनके अत्याचारोंको रोकनेका स्त्रियोंको कोई अधिकार नहीं है—उनको सिर्फ यही अधिकार है कि वे उन अत्याचारोंको चुपचाप सहन करती रहें !

पुरुषोंकी ओरसे स्त्रियोंपर जो अत्याचार होते हैं वे अब इतने रूढ़ हो गये हैं, समाजकी दृष्टिको उनके देखनेका इतना अभ्यास हो गया है कि अधिकांश लोग—जिनमें हजारों पढ़े लिखे भी शामिल हैं—उन्हें

अत्याचार ही नहीं समझते । वे इस बातको माननेके लिए भी तैयार नहीं हैं कि पुरुष-समाज स्त्रियोंके साथ जो व्यवहार करता है, उसकी अत्याचार संज्ञा भी हो सकती है । उनकी समझमें वह अत्याचार नहीं, किन्तु स्वाभाविक तथा धार्मिक व्यवहार है । यही क्यों, जो स्त्रियाँ इन अत्याचारोंकी लक्ष्य हैं, जिनपर रातदिन ये अत्याचार होते हैं, वे भी तो इन्हें अत्याचार नहीं कहती हैं और इन्हें खुशीसे सहन करते रहना अपना धर्म समझती हैं ! अभ्यास ऐसी ही चीज है । अभ्यास पड़ जानेसे कष्टका भी कष्ट रूपमें अनुभव नहीं होता है । अमेरिकाके नीग्रो लोगोंका हृदय सैकड़ों वर्षोंकी गुलामीके अभ्याससे ऐसा बन गया था कि उन्हें वह गुलामी ही अच्छी मालूम होती थी । जिस समय उन्हें स्वाधीनता दी गई उस समय वह उन्हें भयावनी और पहलेकी गुलामी प्रार्थनीय जान पड़ती थी । यही हाल हमारी स्त्रियोंका भी है ।

* * * * *

स्त्रियोंके विषयमें जब कभी कोई चर्चा होती है उस समय हम यह भूल जाते हैं कि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं । उनके भी हृदय, बुद्धि, विवेक, सुखदुःखके अनुभव करनेकी

शक्ति आदि बातें हैं और वे भी मनुष्यस-
माजकी एक अंग हैं। इन बातोंके भूल जा-
नेसे ही पुरुष उन पर अत्याचार करता है
और उनके प्रकृतिदत्त सत्वोंकी पायमाली
करनेमें ज़रा भी नहीं हिचकता।

× × ×

हमारे पिछले साहित्यमें स्त्रीनिन्दाकी भर-
मार है। जहाँ देखिए वहाँ स्त्रियोंकी निन्दा।
संभव है कि उक्त साहित्यके लेखकोंने स्त्री-
निन्दासे कुछ लाभ सोचा हो और शायद
किसी अंशमें उससे लाभ हुआ भी हो; परन्तु
हम उसे नहीं जान सकते; हाँ, हानि हम
अवश्य अनुभव कर रहे हैं। इस निन्दाने
स्त्रियोंको अपने पूज्य पवित्र और महनीय
आसनसे बहुत ही नीचे गिरा दिया है और
पुरुषसमाज उन्हें आदर श्रद्धा और स्नेहकी
दृष्टिसे देखना भूल गया है। उसकी दृष्टिपर
इस निन्दाका इतना प्रभाव पड़ चुका है कि
अब वह उसमें प्रशंसाके दर्शन ही नहीं कर
सकता। पवित्रसे पवित्र स्त्रीके सामने आते ही
पुरुषके हृदयमें 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः'—
स्त्रीके अठगुणे कामके वेगका स्मरण हो
आता है और तब उसके लिए उसे विकार-
रहित दृष्टिसे देखना असंभव हो जाता है।
उसकी समझमें स्त्री एक विलासकी सामग्रीके
सिवाय और कुछ नहीं है। मानों संसारमें
एक कामवासनापूर्ण पाशविक सम्बन्धके
सिवाय बहिन भाई, माता पुत्र, सखा सखी
आदिके पवित्र सम्बन्ध हो ही नहीं सकते
हैं। यही कारण है कि आज हमारे देशका युवा
अपनी युवती बहिनके पवित्र स्नेहका उपभोग

नहीं कर सकता है और प्रौढ़ पिता अपनी
जवान बेटीपर अपना हार्दिक प्रेम व्यक्त नहीं
कर सकता है। हम किसी वयस्क पुरुषको
किसी स्त्रीके साथ बातचीत करते देखते ही,
चाहे वह बातचीत कितनी ही अच्छी क्यों
न हो, तरह तरहकी आशंकायें और कुतर्क-
नायें करने लगते हैं। करें क्यों नहीं, हम
स्त्रियोंके संसर्ग आलाप आदि सभीको ही जो
निन्दनीय समझते हैं।

* * * * *

इस स्त्रीनिन्दाका एक परिणाम यह भी
हुआ है कि पुरुष अपने दोषोंका अनुभव
करना भूल गया है। वह यह सोच ही नहीं
सकता कि जब कोई स्त्री पतित होती है तब
उसमें उस स्त्रीके सिवाय पुरुषका भी कुछ
दोष होता है या नहीं। यह ठीक है कि
अग्निके संसर्गसे घृत पिघलने लगता है, परन्तु
इसमें केवल अग्निका स्वभाव ही कारण नहीं
है, घृतकी दुर्बलता द्रवता भी कारण है।
घीकी जगह पत्थर या लोहा हो, तो उसमें
इतना विकार नहीं हो सकता। यदि पुरुष
अपनी आँखोंपरसे इस स्त्रीनिन्दाके विकारको
दूर करके देख सके तो उसे मालूम हो कि
इस विषयमें स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुष ही अधिक
निन्दनीय हैं। भारतके किसी भी समाजका
स्त्रीसमुदाय अपने समाजके पुरुषसमुदायकी
अपेक्षा बीसों गुणा पवित्र और चरित्रवान्
है। बुरीसे बुरी स्त्री उतनी दुश्चरित्र नहीं हो
सकती जितना कि एक मनचला पुरुष होता
है। सच तो यह है कि सौमें नव्वे स्त्रियोंको
दुश्चरित्रताके मार्ग पर ले जानेवाले पुरुष ही

होते हैं। ये पुरुष ही उनकी अज्ञानता, भोलेपन, अदूरदर्शिता, हृदयकी कोमलता आदि बातोंसे लाभ उठाकर उन्हें पापके कुएँमें ढकेल देते हैं। यदि आज पुरुषसमाज सदाचारी और संयमी बन जाय तो स्त्रीसमाज तो स्वभावतः सदाचारी है, उसके सुधारनेमें ज़रा भी देर न लगे। परन्तु यह तब हो जब पुरुष स्त्रीनिन्दा करना छोड़कर अपने हृदयका टटोलना और उसके साथ स्त्रीहृदयका मिलान करना सीखें।

* * * * *

पुरुषसमाज स्त्रियोंको सदाचारिणी पति-प्रायणा बनानेका निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। आजकलकी सभा समितियोंमें इस विषयमें खूब ही व्याख्यान दिये जाते हैं। यहाँतक कि जिस सभामें केवल पुरुष ही वक्ता और श्रोता होते हैं उसमें भी पातिव्रतके और आदर्श स्त्रियोंके चरित्रके जोशीले व्याख्यान दिये जाते हैं। आप जानते हैं कि इसका कारण क्या है? यह नहीं कि पुरुष स्त्रियोंको समाजका कोई अंग समझते हैं या उनके सुख दुखकी उन्हें विशेष चिन्ता हो। स्त्रियाँ पुरुषोंकी गुलाम हैं—दासियाँ हैं। जैसे एक मालिक चाहता है कि मेरा नौकर सदाचारी हो, वह सदाचारी होगा तो मेरा काम अच्छी तरह करेगा—मुझे कोई भय नहीं रहेगा, उसी तरह स्वार्थी पुरुष चाहता है कि मेरी स्त्री पतिव्रता हो तो वह मेरी गुलामी अच्छी तरह कर सकेगी। वह यह नहीं समझता है कि स्त्रीको पतिव्रता बनानेके साथ साथ मुझे

स्वदारसन्तोषी या एकपत्नीव्रतका धारण करनेवाला बनना भी आवश्यक है। यदि पुरुषसमाज इतना समझने लगे तो वह स्वयं सदाचारी बन जाय और उसके साथ साथ स्त्रियाँ भी अपने चरित्रको सुरक्षित रख सकें। पुरुषोंकी जिन सभाओंमें आज स्त्रियोंके पातिव्रतसम्बन्धी व्याख्यान होते हैं, उनमें यदि पुरुषोंके 'एकपत्नीव्रत' पर जोर दिया जाय, तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

* * * * *

“पुरुष स्त्रियोंकी निन्दा जी खोलकर कर चुके हैं। जितनी निन्दा हो चुकी है, उससे अधिक और हो नहीं सकती। अब स्त्रियोंकी वारी है। सौभाग्यसे अब स्त्रियाँ भी शिक्षिता होने लगी हैं। उन्हें चाहिए कि अब वे भी पुरुषोंके इस अत्याचारका बदला चुकानेके लिए कटिबद्ध हो जायँ। इस कार्यमें उन्हें विशेष श्रम न करना पड़ेगा और उनका यह कार्य अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस समयका पुरुषसमाज वास्तवमें ही निन्दाके योग्य है। उसकी जितनी निन्दाकी जाय उतनी थोड़ी है। इससे स्त्रीसमाजको लाभ भी होगा। वे पुरुषोंके छल कपटोंको जानने लगेंगीं और उनसे बचे रहनेका प्रयत्न करने लगेंगीं।” ये एक स्त्रीके वाक्य हैं। एक स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रमें उसकी सम्पादिकाने इन्हें लिखा था। पुरुषोंकी लज्जा रखनेवाली और उनको चरित्र सिखानेवाली कोमल स्त्रियोंके द्वारा ऐसा होना हम उचित नहीं समझते हैं—(यद्यपि पुरुष इस शासनके सर्वथा योग्य है)—परन्तु पुरुषोंको सावधान कर देना हमारा कर्तव्य है।

भगवान् महावीर और स्वावलम्बन ।

कवि, श्रीयुक्त प० गिरिधर शर्मा ।

(तुकहीन)

(१)

श्रीमन्महावीर खड़े हुए थे,
ध्यानस्थ हो, जंगलमें मनोज्ञ ।
आया वहाँ एक गँवार ग्वाला,
जहाँ तहाँ गो-कुलको चराता ॥

(२)

सो छोड़ गोवृन्द चला गया, यों-
विचार, “ नंगा यह है खड़ा ही ।
जाने न देगा इनको कहीं भी,
मैं शीघ्र ही लौट सँभाल लूँगा ” ॥

(३)

परन्तु लौटा तब द्वार पाये
नहीं वहाँ, खोज लगा लगाने ।
फिरा सभी ठौर, पता न पाया,
पीछा महावीर समीप आया ॥

(४)

जो द्वार देखे उसने वहाँ पै,
मूँदे हुए दृक् करते जुगाली ।
उत्पात भारी करने लगा वो,
त्यों गालियाँ खूब लगा सुनाने ॥

(५)

आया तभी इन्द्र, उसे निवारा,
कहा, “ अरे ये नहीं चोर भाई ।
छोड़ा इन्होंने सब राजपाट,
त्रैलोक्यके नाथ मुनीन्द्र हैं ये ” ॥

(६)

विनीत होके फिर देवराज,
श्रीवीरसे यों कर जोड़ बोला ।
“ असह्य, वर्षों, उपसर्ग होंगे,
ये जान मेरा मन कौपता है ॥

(७)

आज्ञा प्रभो दो मुझको, तुम्हारी
सेवा करूँ मैं, रह सावधान ।
होवे न जो संयमका विघात,
चारित्र्यमें अन्तर त्यों न आवे ” ॥

(८)

श्रीवीरने वाक्य सुरेन्द्रके ये,
सुनें, जरा सा मुसकाय बोले ।
“ स्वात्मावलम्बी जनको सुरेन्द्र,
साहाय्य आवश्यक ही नहीं है ॥

(९)

सहायता दे जन हीनको तू,
पराश्रयी या बलहीनको तू ।
मुझे न आवश्यकता ज़रा भी,
दे छोड़ चिन्ता इस देहकी तू ॥

(१०)

आत्मार्थके साधनमें पराई,
सहायता ले, नहीं वीर ऐसा ।
आवें करोड़ों दल बाँध विघ्न,
उन्हें महावीर हटा रहेगा ॥

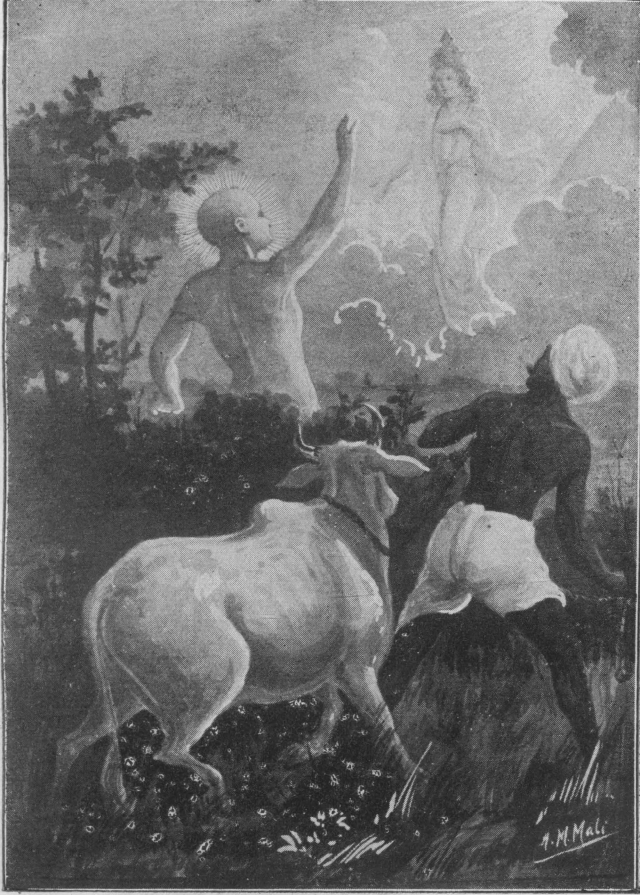
(११)

डटा रहे जो प्रतिकूलतामें,
जिसे हिलावें नहीं विघ्नवाधा ।
न साम्य जावे जिसका कभी भी,
है वीरका मार्ग महेन्द्र ऐसा ॥

(१२)

हुआ नहीं, है नहीं, ओ न होगा,
परावलम्बी अरहंत कोई ।
दे आत्मसामर्थ्य मुझे दिखाने,
सुरेश, जा तू अपने ठिकाने ” ॥

जैनहितैषी-



भगवान् महावीर और स्वावलम्बन ।

इन्द्रः—भविष्यति द्वादशाब्दान्युपसर्गपरम्परा ।
तां निषेधितुमिच्छामि भूत्वाहं पारिपार्श्वकः ॥

महावीरः—नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः, परसाहायिकं क्वचित् ।
नैतद्भूतं भवति वा, भविष्यति जातुचित् ।
यदर्हन्तोऽन्यसाहाय्यादर्जयन्ति हि केवलम् ॥
केवलं केवलज्ञानं प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः ।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ॥

(चित्राधिकारी श्रीयुक्त मेघर्जा हीरजीके सौजन्यसे मुद्रित् ।)

बादशाहकी दुलहिन ।

लेखक, श्रीयुत कुँवर कन्हैयाजू ।

(१)

सिन्धके बादशाह अहमदशाहने रजत-सरो-
वरके किनारे एक शीत-महल बनवाया था ।
गर्मीके दिनोंमें राजधानी छोड़कर वह बहुधा
यहीं रहा करता था । वह एक सुन्दर और
सुदृढ शरीरका युवा पुरुष था । जिस प्रकार
वह युद्धकुशल और साहसी था उसी प्रकार
काव्य, कलाकौशल आदि सद्गुणोंका प्रेमी और
सहायक भी था ।

एक दिन वह अपने कुछ चुने हुए साथियोंके
सहित एक सुन्दर किशतीमें सवार होकर जल-
क्रीड़ा कर रहा था । स्वच्छ चाँदनी सरोवरके
स्वच्छ जलको और भी स्वच्छ बना रही थी ।
हरे भरे वृक्षोंसे परिपूर्ण टापू-जिनके पास होकर
वह किशती जा रही थी- बड़े ही सुहावने मालूम
होते थे । मधुर संगीत कानोंमें अमृतकी
वर्षा कर रहा था । किशतीमें बैठे हुए मुस-
लमान कलावतोंने पहले बादशाहकी वीरता और
उदारताके गीत गाये और फिर बहिश्तकी हूर
और परियोंका वर्णन करते हुए गुलाब और
बुलबुलोंपर जाकर अपना गाना समाप्त किया ।
उनके बाद एक हिन्दू कविने उच्च स्वरसे एक
राजपूतकुमारीकी प्रशंसाका गीत गाया । गीत-
का संक्षेप यह था कि वह राजकन्या मृगशाव-
कके समान भोलीभाली और मनोहारिणी है
और सती सीताके समान अद्वितीय सुन्दरी,
बुद्धिमती और लज्जाशीला है । गीतके प्रत्येक
पदमें हृदयको हिलादेनेवाली सरसता और
मधुरिमा भरी हुई थी । उस सुमधुर शीतल चन्द्र-

किरणोंकी छायामें निस्तब्ध भावसे श्रवण करते
हुए बादशाहके हृदयपर इस गीतका बड़ा प्रभाव
पड़ा । उसने पूछा, यह “ महताबरुख परी पैकर
किसी खयाली दुनियाकी चीज है, या दर अस-
लमें कहीं है ? ” कविने उत्तर दिया, “ हूजर,
वह इस समय मौजूद है और कुमारी
है । मैंने राजपूत सरदार पर्वतसिंहकी कन्या
लालाकी प्रशंसामें यह गीत गाया है । ”
“ अगर वह दर असलमें तुम्हारे बयानके
मुआफिक दिलफिसाँ है, तो उसे मैं अपनी
दुलहिन बनाऊँगा, नहीं तो इस तारीफका इनाम
यह होगा कि तुम्हारा सिर कलम किया जायगा । ”
यह कहकर बादशाह गहरे विचारोंमें डूब गया ।
थोड़ी ही देरमें किशती किनारे पर लगा दी गई ।

दूसरे दिन सबेरे ही बादशाहने अपनी सभा-
के सलाहकार ब्राह्मणको बुलाया और उससे
पर्वतसिंहकी लड़कीके विषयमें पूछताछ की ।
ब्राह्मण देवताने और भी नमक मिर्च लगाकर
लालाके सौन्दर्यका वर्णन कर दिया जिससे कविके
संगीत पर मानों मुहर लग गई । लालाकी
प्राप्तिका ध्यान जो अभीतक अन्तरके निभूत क-
क्षमें छुपा हुआ था अब बाहर आ गया ।
बादशाहने ब्राह्मणको आज्ञा दी कि “ तुम इसी
समय पर्वतसिंहके यहाँ जाओ और कहो कि
बादशाह तुम्हारी बेटी लालाको अपनी दुलहिन
बनाना चाहते हैं । ”

किन्तु बादशाह अपनी इच्छापूर्तिके
मार्गको जितना निष्कण्टक और सुगम समझता
था उतना वह वास्तवमें था नहीं । पर्वतसिंह

उन राजपूतोंके समान नहीं था जिन्होंने अपनी कन्यायें बादशाहको या उसके सरदारोंको ब्याहकर अपना सौभाग्य समझा था। वह सच्चा राजपूत था। उसे अपने पूर्वजोंका अभिमान था और इस कारण वह अपने कुलकी मर्यादाको बनाये रखना अपना कर्त्तव्य समझता था। उसे राजपूतोंका मुसलमानोंके साथ विवाहबन्धनमें बंधना बहुत ही खटकता था। वह इस कार्यसे बहुत घृणा करता था। अपने धर्मकी रक्षाके आगे शाही-ताज और तख्तसे सत्कार पानेके लोभको वह तुच्छ समझता था।

पर्वतसिंह जैसा वीर था वैसा ही समझदार भी था। इस समय अपनी रक्षाका प्रबन्ध ठीक न होनेके कारण उसने बादशाहसे कहला भेजा कि मैं अपनी लड़कीको ब्याह देनेके लिए तैयार हूँ।

(२)

बादशाहने सुना कि पर्वतसिंह अहोरके पहाड़ी किलेमें चला गया है और वहाँ गुप्तरूपसे तैयारियाँ कर रहा है। उसके स्वजनसम्बन्धी और मैमार राजपूत आ आकर उससे मिल रहे हैं। अहमदशाहने दश हजार सेना तैयार की और निश्चय किया कि या तो इस सेनासे राजपूतोंका सर्वनाश कर देंगे या इसे ही बारात बनाकर नई दुलहिनको ले आयेंगे।

निदान अहमदशाह बड़ी शानके साथ अपनी वीर बारातको लिये हुए अहोरके किलेके पास जा पहुँचा। वह एक बहुमूल्य साजोंसे सजे हुए हाथी पर बैठा था। शाहने ज्योंही किलेके भीतर जानेके लिए अपने हाथीको बढ़ाया त्योंही एक बाण किलेसे सनसनाता हुआ आया और उसके ताजकी कलगीमें आ लगा। बाण थोथा था और उसके सिरे पर एक कागजका पुरजा बँधा हुआ था जिसमें

यह लिखा था—“जिस धनुर्धरके हस्तकौशलने इस बाणको तुम्हारे ताज तक पहुँचाया है वह तुम्हारे उस कुत्सित मस्तकको बातकी बातमें छेद सकता है जिसमें लालाको लेनेकी लालसा उत्पन्न हुई है। अब भी सचेत हो जाओ।” इसी समय किसीने वह बहुमूल्य पोशाक—जो बादशाहके यहाँसे नई दुलहिनके लिए आई थी—चिथड़े चिथड़े करके बादशाहके हाथीके आगे फेंक दी। गरज यह कि तुमुल युद्धकी सूचना हो गई। मुसलमान सेनाने समझा कि अब शीघ्र ही किलेसे आग बरसेगी और हमारी रक्षा होना कठिन है; परन्तु यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि वहाँ बहुत देर तक खड़े रहनेपर भी कहींसे एक भी बाण उन तक न आया और न कोई बन्दूककी आवाज़ ही सुनाई दी।

अहोरके किलेमें तीन हजार राजपूत थे। बादशाहके खजानेसे जो कुछ धन रत्न आदि सौगातकी तौर पर पर्वतसिंहको मिला था, वह सब उसने किलेकी दुरुस्ती, रसदके इन्तजाम और अच्छे अच्छे हथियारोंके खरीदनेमें खर्च किया था। उसकी प्रतिज्ञा थी—कि चाहे जो हो, अपनी लालाको विधर्मीके हाथ न जाने दूँगा और अन्त तक इस किलेकी सहायतासे अपनी रक्षा करूँगा।

(३)

मुसलमान लोग नसैनियाँ लगा-लगाकर किलेकी दीवारोंपर चढ़ने लगे। चढ़ते समय जब उनके काममें कोई रुकावट न डाली गई, तब तो उनका हौसला बढ़ गया; परन्तु थोड़ी ही देरमें उन्हें विश्वास हो गया कि किलेके भीतर प्रवेश करना ज़रा टेढ़ी खीर है। राजपूत लोग ऊपर तक लगाये हुए खड़े थे; उन्होंने बड़े बड़े लठ्ठोंसे सारी नसैनियोंको खिसका दिया

जिससे नैसैनीपर चढ़े हुए मुसलमान लुढ़क लुढ़ककर खाईमें जा गिरे । किलेमें पैठनेके लिए अनेक यत्न करनेपर भी जब मुसलमानोंको सफलता न हुई, तब उन्होंने स्थायी घेरा, डाल देनेका निश्चय कर लिया । इसके सिवाय पर्वतसिंहको ठिकाने लानेका और कोई उपाय भी न था ।

धीरे धीरे तीन महीने बीत गये । अब राजपूतोंको रसदकी कमी मालूम होने लगी । बाहरसे किसी प्रकारकी सहायता पानेकी भी आशा न थी । अब पर्वतसिंहको चिन्ताने सताया । उसने अपने साथियों समेत दृढ़ प्रण किया था कि मर मिटना पर आत्मसमर्पण न करना । राजपूतोंको अपने प्राण देना कोई कठिन काम न था; पर उन्हें चिन्ता यह थी कि हमारे पीछे हमारी स्त्रियों और बेटियोंकी क्या दुर्दशा होगी ।

और कोई उपाय न देखकर उन्होंने अपने चिर-प्रचलित जाँहर व्रतकी उद्यापना करनेका ही निश्चय किया । सारी स्त्रियाँ प्रसन्नतापूर्वक अग्रिमें जलजानेके लिए तैयार हो गईं । कई स्त्रियोंने यह इच्छा की कि हम अपने पति-पिता पुत्रोंके साथ हथियार बाँधकर लड़ें और उनकी यथासाध्य रक्षा करें; परन्तु पर्वतसिंहकी स्त्रीने जो सबकी शिरोमणि थी, उन्हें ऐसा करनेसे रोक और कहा—नहीं यह मार्ग स्त्रियोंके लिए निसपद नहीं है । चलो, हम सब चिताका आलिङ्गन करें और अपने पति पुत्रोंके पहुँचनेके पहले ही स्वर्गमें जा पहुँचें ।

रातको एक बड़ी भारी चिता तैयार की गई । ढेरकी ढेर लकड़ियाँ एकट्टी करके उनमें मनो धी और रात डाल दी गई । इसके बाद उसमें आग लगाई गई जो देखते देखते आसमानसे बातें करने लगी । राजपूत वीरांगनार्यो एक एक करके

उसमें कूदने लगीं और सबेरा होते होते उस किलेमें एक भी स्त्री जीती न बची !

(४)

स्त्रियोंकी ओरसे निश्चिन्त होकर अब राजपूत-वीरोंने अपने बलिदानकी तैयारी की । सबेरा होनेके पहले ही तीन हजार राजपूत केसरिया वस्त्र पहने हुए किलेके भीतरी फाटक पर एकत्रित हो गये । वहाँ उन्होंने एक दूसरेके गले लगकर हमेशाके लिए बिदा माँग ली और किलेका फाटक खोल दिया । इस वीर अभिनयके प्रधान नायक पर्वतसिंह, और उसके युवराज कुमार रामसिंहके पीछे पीछे सारे राजपूत एक तन एक मन होकर शत्रुदलपर इस प्रकारसे दूट पड़े जैसे भेड़ोंके झुंडपर भूत्वा भेड़िया दूटता है ।

मुसलमान-सेनाने अपने बचावके लिए खाई खोद रक्खी थी और उसीकी मिट्टीके धूलि-कोट बना रक्खे थे । राजपूतदल कोटरक्षकोंको मारता-काटता हुआ सारी रुकावटोंको पार करके शत्रुओंके मध्यमें जा धँसा । पास ही बादशाहका खेमा था जिस पर नीला निशान फहरा रहा था । राजपूत यवनसेनाको चीरते हुए शाही-खेमेकी ओर बढ़ने लगे । मुसलमानोंने उनको रोकनेकी बहुत चेष्टा की; परन्तु वह निष्फल हुई । उनके भयंकर वेगको रोकना असंभव हो गया । बादशाह आपत्तिको बिलकुल समीप आई देखकर उठ खड़ा हुआ और शीघ्र हथियार बाँधकर हार्थी पर सवार हो गया । जो मुसलमान सिपाही राजपूतोंके असह्य आक्रमणसे घबड़ाकर तितर बितर हो गये थे उन्हें एकत्र करके वह मुकाबिलेके लिए तैयार हो गया । राजपूतोंका हमला अचानक हुआ था, इस कारण मुसलमान दलमें खलबली मच गई थी । जबतक मुसलमान सिपाही तैयार होकर मोरचेबन्दी पर हुए तब

तक राजपूत इतने बढ़ गये कि बादशाहके प्राण सूख गये। उसे घड़ी घड़ी पर यही भास होता था कि अब मरा या पकड़ा गया। उसके सैनिक सिमटकर हाथीके सामने हो गये और एक एक करके मारे गये ! राजपूत प्राणपणसे आगे बढ़ रहे थे, इसलिए वे थोड़े ही समयमें बादशाहके हाथीके सामने आ पहुँचे। उनके वाणों और बरछोंसे हाथीकी पीठ चलनी बन चुकी थी और वह पलायोन्मुख हो रहा था कि पर्वतसिंहके साहसी पुत्र रामसिंहने नीचे पैठकर हाथीके तंगकी रस्सी अपनी कटारसे काट दी ! रस्सीके कटते ही हौदा ओंथा हो गया और बादशाह जमीन सूँघने लगा। इसी समय रामसिंह अपने दो तीन साथियों सहित उस पर झपटा; परंतु उसका वार खाली गया; क्योंकि अहमदशाह तब तक सँभल गया था— उसने उस बारको अपनी ढालपर झेल लिया। इधर उसकी रक्षाके लिए मुसलमान सिपाही भी चारों ओरसे सिमट आये थे। लड़ाई धीरे धीरे भयंकररूप धारण करने लगी। राजपूतोंकी संख्या कम होने लगी और शत्रुओंकी बढ़ने लगी। राजपूत चारों ओरसे घेर लिये गये और उन पर प्रबल हमले होने लगे। राजपूतोंको अब जीतकी आशा न रही। जितने शत्रु मारे-जा सकें उतने मार लो; बस अब यही उनका उपस्थित कर्तव्य हो गया। उनका एक एक दल छूटता था और शत्रुसेनामें घुसता हुआ मारता काटता हुआ अन्तमें शान्त हो जाता था।

वीर पर्वतसिंहके मस्तकपर अब भी राजचिह्न शोभा दे रहे थे और वह अब भी अपने साथियोंको घमासान युद्धके लिए उत्तेजित करता हुआ शत्रुओंकी संख्या कम कर रहा था। मुसलमान उसे मारने या जीता पकड़ लेनेके लिए जीजानसे चेष्टा कर रहे थे; परन्तु

उन्हें सफलता न होती थी। जब तलवारोंने काम न दिया, तब एक वाण छोड़ा गया और उसने पर्वतसिंहके विशाल शरीरको धराशायी कर दिया ! पिताके गिरते ही पुत्रने मुकुट, छत्र आदि राजचिह्न धारण कर लिये। यह देख बरलीखाँ नामका मुसलमान सरदार उसके मुकाबिलेपर आ पहुँचा। बरलीखाँके एक कठिन प्रहारसे रामसिंहकी तलवार टूट गई, तो भी वह लड़ता रहा और उसी टूटी तलवारसे लड़ते हुए बरलीखाँके तीन साथियोंको मारकर उसने वीरगति प्राप्त की।

मुट्टीभर राजपूत आखिर कहाँतक लड़ सकते थे ? उन सबने अपनी मर्यादाकी रक्षाके लिए एक एक करके प्राण दे दिये। युद्धका अन्त हो गया। आकाशमें उड़ती हुई धूलि चिर-निद्रामें सोते हुए सात आठ हजार शवोंपर बैठकर शान्त हुई !

निर्दय बादशाहने बड़ी उत्सुकतासे अहोरके किलेके भीतर प्रवेश किया; परन्तु उसने वहाँ क्या देखा ! निर्जन स्मशान ! शवदाहकी दुर्गन्धिसे वायुमण्डल व्याप्त हो रहा था और चित्तमें अब भी अग्नि दहक रही थी। राजपूतोंके जौहरव्रतका वर्णन उसने पहले कईबार सुना था, इसलिए उसे यह समझनेमें विलम्ब न लगा कि यहाँ भी उसी व्रतका उच्चापन किया गया है। इससे उसे बड़ी निराशा हुई। उसका पाषाणहृदय भी इस नारीहत्यासे द्रवित हो गया। कुछ समयके लिए उसे ऐसा मालूम हुआ कि मैंने यह कार्य अच्छा नहीं किया। वह मन-ही-मन कहता था—

“ न खुदा ही मिला न विसाले सनम्,
न इधरके हुए न उधरके हुए। ”

(५)

परन्तु उसकी यह निराशा शीघ्र ही आशामें परिणत हो गई । थोड़े ही दिनोंमें उसके पास यह संदेश आया कि “ लाला अभी जीती है । उसे पर्वतसिंहने अपने पड़ोसके एक जागीरदार राज-पूतके यहाँ भेज दी थी, इस लिए उसकी रक्षा हो गई है । लाला स्वयं बादशाह पर मुग्ध है और वह उसके साथ शादी करनेके लिए तैयार है ! ” अहमदशाहके आनन्दकी सीमा न रही । आकाशका चाँद उसने पृथ्वी पर ही पा लिया !

रजतसरोवरके किनारेके महलमें ही इस विवाहका होना निश्चित हुआ । यह विवाह राजनीतिकी दृष्टिसे बड़े महत्त्वका था । क्योंकि इसमें लाला और बादशाहके बीच ही नहीं; किन्तु हिन्दू और मुसलमानोंके बीच भी स्नेहका सम्बन्ध होना था । दरबारकी ओरसे घोषणा कर दी गई कि जो राजपूत पहले विरुद्ध रहे हों या अब भी विरोधी हों, उन सबको विवाहमें सम्मिलित होना चाहिए—उनके सब अपराध क्षमा कर दिये गये । यह भी प्रकट कर दिया गया कि विवाह हिन्दू-विवाहपद्धतिके अनुसार होगा !

दूर दूर तकके लोग इस अभिनव विवाहोत्सवमें आकर सम्मिलित हुए । जहाँ तहाँ मूर्तिमान आनन्द दृष्टिगोचर होने लगा ।

आज एक सुन्दर विवाहमंडपके भीतर हम लाला और अहमदशाहको पास पास बैठे देखते हैं । दोनोंका गँठजोड़ा हो रहा है । दोनों ही विवाहके बहुमूल्य आभूषणोंसे सजे हुए हैं । लाला अपने चन्द्रविनिन्दित मुखको चटकीली चूनीसे ढके हुए निश्चिन्त भावसे बैठी है । उसकी ओर लंगोंकी तरह तरहकी दृष्टियाँ पड़ रही हैं । कोई दृष्टि कातुक्युत है, कोई आनन्दपूर्ण है, कोई विषादमय है और कोई घोर

घृणायुक्त है । इस समय अहमदशाहने वह पोशाक पहिन रखी थी जो लालाकी ओरसे उसे प्राप्त हुई थी और जो बिलकुल देशी ढंगकी थी । पक्रे मुसलमान उसके इस कार्य पर घृणाकी वर्षा कर रहे थे; परन्तु उस ओर उसका ज़रा भी लक्ष्य न था ।

विवाहविधिको समाप्त करके पुरोहितजीने ज्योंही आशीर्वाद दिया, त्योंही लाला अपने स्थानसे उठी और अपने पतिको हाथ पकड़कर उसे बरामदेके ऊपरके उस छज्जेपर लिवा ले गई जो सरोवरके ठीक किनारे पर था और जहाँसे दूर दूर तककी प्रकृतिकी शोभा दिखलाई देती थी । उसने कहा—“ मालिक मेरे, आइए यहाँ धूपमें खड़े होकर हम अपनी प्रजाको दर्शन देंगे जो इसी लालसासे न जाने कबकी खड़ी है । ” बादशाहने अपनी दुलहिनकी आज्ञाका तत्काल ही पालन किया । उसने देखा कि चारों ओर, दूर दूर तक, लोगोंका जमाव हो रहा है और वे सब टकटकी लगाकर हमारी ही ओर देख रहे हैं । मनुष्यसमूहसे आगे जहाँ तक उसकी नजर जाती थी कोई मैदान, घाटी, पर्वत, आदि ऐसा स्थान न था जो उसकी शासनसीमासे बाहर हो । इन सब बातोंके साथ ही उसने यह भी देखा कि जिस लालाके लिए बड़े बड़े कष्ट सहे, हजारों मनुष्योंका रक्त बहाया, वह आज दुलहिन बनकर बगलमें खड़ी है । इस समय उसका चेहरा आत्माभिमानकी दीप्तिसे दमक उठा ।

अब बादशाहने अपनी दृष्टिको सब तरफसे हटाकर अपनी दुलहिनकी ओर डाला । उसे आश्चर्य हुआ कि साम्राज्य दुलहिनें जिस संकोचकी दृष्टिसे अपने पतियोंकी ओर देखती हैं उस संकोचका लालाकी दृष्टिमें सर्वथा अभाव है । वह एक अनोखे ढंगसे

शाहकी ओर देखती हुई व्यंग्यपूर्वक बोली—
“मालिक भरे, इस उपास्थित आनन्दको भोग लीजिए, नहीं तो यह घड़ी जाती है। सांसारिक सुखोंकी सर्वोच्च सीमा पर पहुँचना ही मानों ईश्वरीय दण्डका पात्र होना है। हम लोग जो इस समय सब तरहसे सुखी और स्वस्थ हैं, आश्चर्य नहीं जो एक दिन भरमें—नहीं—नहीं घड़ी भरमें ही इस संसारसे उठ जायँ।” अहमदशाह नई दुलहिनकी प्रासिके आनन्दमें ऐसा मस्त हो रहा था कि उसने लालाके इन व्यंग्यपूर्ण वाक्योंको ज़रा भी न समझा। वह मुस्कराता हुआ बोला—“ऐसा क्यों ?”

नीचे सरोवरके किनारे खड़े हुए सर्वसाधारणजन और पास ही बरामदेमें खड़े हुए मुसाहब लोग इस अभिनव जोड़ेकी छवि निहार रहे थे। उनकी रत्नजटित—पोशाकपर पड़ती हुई सूर्यकी किरणों एक अपूर्व शोभाको जन्म दे रही थीं। सबके देखते देखते बादशाहके चेहरे पर घबड़ाहट नजर आने लगी। धूपके कारण ज्योंही उसके शरी-

रसे पसीना निकला, त्योंही वस्त्रोंमें लगे हुए तीव्र विषने अपना असर डालना शुरू कर दिया। वह विकल होकर इधर उधर दौड़ने लगा और पोशाकको फाड़फाड़कर फेंकनेका यत्न करने लगा। वह चिल्लाना चाहता था; परन्तु उसके कण्ठमेंसे आवाज़ न निकलती थी। अन्तमें उसका शरीर शिथिल हो गया और जब तक लोगोंने उसकी इस दशाका कारण मालूम किया, तब तक वह इस संसारसे ही विदा हो गया !

लालाने अहमदशाहके निर्जीव शरीरको एक बार घृणाकी दृष्टिसे देखा, फिर राजमहलके सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़कर उसने अपने पिताके प्यारे अहोर किलेकी ओर देखा, और इसके बाद उसने माता—पिता—भाई—बन्धुओंकी मृत्युका ध्यान किया। अन्तमें उसके मुखमण्डलपर एक विकट हास्यकी छाया दीख पड़ी और उसने वहाँसे सरोवरमें कूदकर प्राण दे दिये !

सुखशान्तिवर्द्धक नियम ।

(लेखक, बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीय बी. ए.)

१. हमको प्रति दिन आपत्तियाँ सहने और पग पग पर निराश्र होनेके लिए तैयार रहना चाहिए।
२. संसारमें कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है, अतएव बहुत अधिककी लालसा मत करो।
३. प्रत्येक मनुष्यके स्वभावको देखो कि जिससे तुम उनको अच्छी तरह समझ सको।
४. यदि किसीपर दुःख या आपाति आजाय तो उसके साथ सहानुभूति प्रगट करो, और यदि किसीकी उन्नति या बढ़ती होती हो, तो उसे देखकर हर्षित होओ।
५. यदि तुम्हें क्रोध आरहा हो, तो मौन धारण करो। क्रोधावस्थामें बोलना ठीक नहीं है।
६. दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिए शक्ति भर उद्योग करो।
७. जीवनको निःसार मत समझो, किंतु हर्ष और आत्मवृद्धीकी दृष्टिसे देखो।
८. अपनेसे बड़ोंसे आदरके साथ पेश आओ और छोटेसे प्रेमके साथ व्यवहार करो।
९. नौकरोंके साथ धीरे और प्रेमके साथ बोलो।
१०. किसीके अवगुण एकान्तमें देखो, लोगोंके सामने उसकी प्रशंसा ही करो।
११. प्रशंसा जब हो सके, तब करो; परन्तु निन्दा उसी समय करो जब उसकी अत्यन्त आवश्यकता हो।
१२. मुलायम जबाबसे प्रायः क्रोध जाता रहता है।
१३. यदि वास्तवमें किसीने अपराध किया हो और तुम उसपर क्रोध करते हो, तो उस समय याद करो कि तुमने भी कभी कोई अपराध किया होगा।
१४. हर्षमें पहले दूसरोंका ख्याल रक्खो।
१५. दूसरोंकी प्रतिष्ठाका ख्याल रक्खो।
१६. जब हो सके दूसरोंके विषयमें अच्छे विचार रक्खो।

जैनोंकी वर्तमान दशाका चित्र।

एक सच्चे नाटकका अभिनय।

[लेखक, श्रीयुक्त बाडीलाल मोतीलाल शाह]

रविवारका सन्ध्यासमय है। अभी अभी उहका घंटा बजा है। मैं एक स्वानुभवी तत्त्व-ज्ञानीके ग्रन्थको लेटे लेटे बाँच रहा था। जीव-न-नाटकके अभिनयका आनन्द कैसे अनुभव किया जाय, इस विषयमें उक्त तत्त्वज्ञानीके विचार पढ़कर मेरे मुँहसे एकाएक निकल पड़ा—“शाबास मित्र, शाबास !”

मेरे इन शब्दोंके निकलनेके साथ ही किसीने कहा—“शाबास सनकीर्जी, शाबास !” देखता हूँ तो मेरे मित्र डाक्टर रामलाल सामने खड़े हैं। चार नजरें होते ही वे बोले—“इस सन-कको अब छोड़ दो, तो अच्छा हो। अपने लिए नहीं तो मेरे जैसे स्नेहियोंके लिए ही—कमसे कम ४-६ महीनेको तो यह पागलपन छोड़ दो। यदि न छोड़ोगे तो मैं कहे देता हूँ कि तुम्हें पागलखानेसे या मरघटसे आमंत्रण आये बिना न रहेगा। महीनों बीत गये, तुम बीमार हो। मैं कह कहकर थक गया कि बीमारीका कारण कोई रोग नहीं, किन्तु यह सनक ही है, तो भी तुमने इसे छोड़कर शामको टहलनेके लिए जानेका आरंभ न किया। बाँचने और सोच विचार करनेका आनन्द तुमसे नहीं छूटता और यही कारण है जो तुम्हें यह बीमारी नहीं छोड़ती। शरीरकी ओरसे इतने ला-परवा रहना, इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है? मैंने आज सुना कि तुम्हारी तबीयत बहुत खराब हो रही है, इस कारण और सब कामोंका छो-

ड़कर तुम्हें फिर एकवार सूचना देने आया हूँ। क्या तुम नहीं जानने कि ‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’?

मैं उठकर बैठ गया और डाक्टरको कुरसीपर बैठनेके लिए कहकर बोला—“भाई, तुम ज़रा सोचो, तो मालूम हो कि यह सनक भी एक अमूल्य चीज़ है। बाँचने और सोचने विचारनेसे यदि मनुष्य सनकी पागल या मृत हो जाता हो, तो भी मैं कहूँगा कि बाँचने और विचारनेकी यह बहुत ही थोड़ी कीमत है। यदि इससे भी अधिक कीमत देना पड़ती हो तो भी ये रत्न खरीदनेके योग्य हैं। तुम्हारी इस सनक-पागलपन और मौतसे डरनेवाली दुनिया तो जीवित रहनेपर भी मुरदोंकेसे दिन पूरे किया करती है और सदा रोती हुई शकल बनाये रहती है; मानों मौतके मुँहमें ही निवास करती हो! पर मेरी दशा देखो; मुझे इस विचारसागरमें डुबकी लगानेसे एक प्रकारका नया जीवन मिलता है और इस कारण चाहे जितना बीमार रहनेपर भी मैं नई शक्ति और आनन्दका अनुभव किया करता हूँ। ‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’ यह बोधवचन उन लोगोंके लिए है जो अपने आपको बोध नहीं दे सकते हैं। हम जैसे सनकियोंको तो दूसरोंके ग्रथित किये हुए नीतिसूत्रोंकी धजियाँ उड़ानेमें और सच्चे सूत्र बनानेमें ही आनन्द आता है और इसी कारण हमें कोई भी वचन डरावना नहीं मालूम होता। जो ‘अति’ दूसरोंके लिए भयस्थान है, वह

हमारे लिए आनन्दस्थान है—बल्कि हमें तो 'अल्प'में उलटी तुच्छता मालूम होती है—उससे एक प्रकारकी अरुचि उत्पन्न होती है और—”

“ और मैं भी आज तुम्हें अरुचि उत्पन्न करानेका निश्चय करके आया हूँ । ” डाक्टरने बात काटकर कहा और मेरे हाथसे पुस्तकको छीनकर टेबिलपर फेंक दिया । “मैं आज तुम्हें तुम्हारे थोथे और हवाई ख्यालोंमेंसे खींचकर बाहर घसीट ले जानेका विचार करके आया हूँ । आज मुझे दिखला देना है कि तुमारी ख्याली दुनियाकी अपेक्षा हमारी यह जीती-जागती सौची दुनिया कितनी अधिक आनन्दजनक है । मेरा विचार है कि आज कुछ खेलतमाशे दिखलाकर तुम्हारा जी बहला लाऊँ । खुली हुई हवामें फिरनेसे और जीती जागती दुनियाके मनोरंजक दृश्य देखनेसे तुम्हारे मस्तकको विश्राम मिलेगा और शरीरको भी लाभ होगा । चलो, देर मत करो; कपड़े पहन कर मेरे साथ हो जाओ । यदि तुम इंकार करोगे तो मुझे बहुत दुःख होगा । ”

मैंने सोचा, एक ओर तो मुझे तत्त्वज्ञानके वाचन-मननके इस आनन्दको गँवानेका दुःख भोगना पड़ेगा और दूसरी ओर, अपने प्रेमी मित्रकी बात नहीं मानता हूँ तो उसे दुःख होगा,—इन दोमेंसे मुझे कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए ! बुद्धिने सम्मति दी कि “ तुझे दुःख होता है इस कारण अथवा दूसरेको जो दुःख होता है उसकी सहानुभूतिसे, किसी कार्यको करनेके लिए तैयार होना, ये दोनों ही निर्बलतायें हैं । तेरा आशय केवल बल प्राप्ति करनेका होना चाहिए, सुख दुःखका नहीं । तब, इस समय तुझे पुस्तक पढ़नेमें जो सुख हो रहा है उस सुखको भी यदि तू जीत ले—उसकी भी दासता छोड़नेके लिए कसर कसले, तो क्या यह बलप्राप्तिका

मार्ग नहीं है ? जिस चीजसे सुख होता है उसे (उस चीजके प्रति धृणा होनेके कारण नहीं किन्तु चीज चाहे जितनी सुखदायक और सुन्दर हो तो भी एक विचारकके लिए उसकी दासता स्वीकार कर लेना अपमानजनक है, केवल इसी ख्यालसे) छोड़ देना—यह जय—यह आनन्द यह बलप्राप्ति ही तो प्रार्थनीय है । ” बुद्धिकी यह सम्मति पाकर मैंने तत्काल ही निश्चय कर लिया और कपड़े पहनकर कहा, ‘ चलो चलें । ’

इसके बाद हम दोनों घरसे चल दिये । मैदानमें पहुँचकर पहले हमने ‘ टग आफ वार ’ (रस्सा खींचनेका तमाशा) देखा; परन्तु उससे मेरा जुरा भी मनोरंजन न हुआ । वहाँसे हम सीनेमेटोग्राफमें गये जिसमें हमने जलते हुए महल देखे, उनमें एक वीरपुरुषको देखा जिसने अपनी जानपर खेलकर एक पूरे कुटुम्बको बचा लिया, पुराने खंडहर देखे और एक विनोदपूर्ण फिल्ममें एक भेड़के पीछे चलती हुई भेड़ोंकी सेनाको कुएँमें पड़ते देखा । यहाँसे उठकर हम ‘ महाभारत ’ नाटक देखनेके लिए गये । उस समय द्रौपदीके शरीर परसे वस्त्र खींचा जा रहा था । बलवान् पाँचों पाण्डव, ऋषिगण, और राजसभाके सारे सभ्य चित्र लिखेसे हो रहे थे । उनमेंसे कोई भी मनुष्य उस पतिव्रताकी रक्षा करनेके लिए तैयार न होता था । यह देखकर मेरे मित्रको उन सबसे बड़ी धृणा हुई । श्रीकृष्णकी कृपाका—किसी अलौकिक शक्तिका—कर्मके अदृश्य हाथोंका सहारा पाकर यद्यपि वह बिलकुल वस्त्रहीन न हो सकी, अन्यायी दुःशासनको इस कार्यमें सफलता प्राप्त न हुई तथापि उसे दासी बनानेमें तो वह सफलमनोरथ हो गया । यह सब होने पर भी जब उन हजारों पुरुषोंमेंसे कोई भी

उसे मुक्त करनेके लिए उद्यत न हुआ तब मैं बोला—“ डाक्टर साहब, बहुत हुआ, चलिए अब मुझसे यहाँ बैठा नहीं जाता । पतियोंकी, दरबारियोंकी और ऋषियोंकी इस प्रकारकी निर्बलता और उनकी इस प्रकारकी नीतिकी व्याख्या मुझे सहन नहीं होती । इस दृश्यसे मेरे मनुष्यत्वसम्बन्धी विचारोंकी हत्या होती है । यहाँ जुआ खेलनेमें अनीति नहीं समझनेवाले, विस्तृत राजपाटको—जो किसी एक मनुष्यकी नहीं किन्तु सारी प्रजाकी चीज है—जुएके दाव पर लगा देनेवाले और जीवित मनुष्यको—मनुष्य ही नहीं, अपनी एकनिष्ठ अर्धांगनाको भी धन या महलके समान दावपर लगा देनेवाले मनुष्य, भरी सभामें और अपनी आँखोंके सामने, अपनी स्त्रीको—राजरानीको वस्त्रहीन होते देख चुप बैठे रहते हैं और अपने मनमें यह अभिमान करते हैं कि हम अपने वचनका पालन कर रहे हैं, यह सब मुझसे नहीं देखा जाता । मित्र, चलो, मुझे अब निद्राकी आवश्यकता है कि जिससे मेरी यह मानसिक व्यथा कुछ कम हो जाय ।”

अधूरे नाटकको छोड़कर हम चल दिये और अपने अपने घर जाकर सो गये । सोते ही मुझे स्वप्न आया और उसमें मैंने देखा कि मैं अपने पूर्वोक्त मित्रके ही साथ विचरण कर रहा हूँ ।

मेरा स्वप्न विचित्र था । स्वप्नकी जागृतदशामें मैंने अपने मित्रसे कहा—“ डाक्टर, रुपये खर्च करके नाटक—तमाशे देखनेमें तो तुम लोगोंको आनन्द आता है; परन्तु तुम्हारे चारों ओर और तुम्हारे अन्तरमें जो सच्चे नाटक खेले जा रहे हैं उन्हें देखनेका तुम्हें ज़रा भी शौक नहीं । तुम मुझे ‘ टग-आफ-वार ’ (रस्सा खींचनेका खेल) दिखला करके हँसाना चाहते

थे और स्वयं हँसते थे; परन्तु स्वयं तुम्हारे समाजमें जो ‘ टग-आफ-वार ’ हो रहा है उसे देखनेकी इच्छा तुम्हें क्यों नहीं होती ? जैनतीर्थोंको मालिकीकी रस्सीसे लपेट कर श्वेताम्बर और दिगम्बर भाई खींच रहे हैं और इस खींचतानमें अपनी सारी शक्तियोंका और सारे द्रव्य-बलका उत्सर्ग कर रहे हैं, यह सब क्या तुम्हें दिखलाई नहीं देता ? इस खींचतानमें—धींगामस्तीमें कितनोंकी पगड़ियाँ गिर पड़ती हैं, कितने ही हारकर सिर धुनते हैं और कितने ही जीतके नशेमें चूर होकर नाचते कूदते हैं । तीर्थोंकी दुर्दशाका यह हास्यकरुणामिश्र-नाटक क्या तुम्हारे चित्त पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालता है ? दया और क्षमा, सरलता और उदारताको धर्मका अंग समझनेवाले धर्मात्मा भाई अपने मनुष्य बन्धु-ओंपर—नहीं नहीं अपने सगे भाइयोंपर—भावहिंसाकी—कपटकी—क्लेशकी—निन्दाकी चोटें चलाकर प्रसन्न होते हैं, यह फार्स क्या ‘ टग आफ वार ’ की खींचतानीकी अपेक्षा कम दर्शनीय है ? मित्र, इन दयाधर्मकी—शान्तिधर्मकी—क्षमा धर्मकी धर्ममूर्तियोंकी ओर ज़रा अच्छी तरह तो निहारो । यदि मेरे जैसे आन्तर—चक्षु तुम्हारे भी होते, तो इनके कुरूप, बीभत्स, वामन शरीर देखकर तुमसे हँसे विना न रहा जाता । मुझे इनके बुद्धि—शरीरकी विकृति देखकर भी बड़ी हँसी आती है । जिस धनशक्ति और समयको धर्म और संघकी उन्नतिके कामोंमें लगाना चाहिए उसे ये लोग अदालतों, आफिसरों और वकीलोंके तृप्त करनेमें खर्च करते हैं ! इन लोगोंने अपनी वणिक्बुद्धिके अभिमानमें मस्त होकर एक कहावत चला रखी है कि ‘ वणिक बिना रावणका राज्य चला गया । ’ परतु इनकी बुद्धि कितनी है इसका पता एक इसी बातसे लग जाता है कि इनसे अपने आपसी घरू झगड़े

भी नहीं मिटाते बनते ! डाक्टर साहब, यदि यह तीर्थक्षेत्रोंको दोनों ओरसे खींचनेवाला रस्सा बहुत समय तक इसी तरह तना रहा, तो अन्तमें इन तीर्थोंकी-इनकी पवित्रताकी-इनके पूजनेके उद्देश्योंकी क्या दशा होगी ? पर अब इस तमाशेको जाने दो और यह दूसरी ओरका करुणारसप्रधान नाटक देखो ।

“महाभारत-नाटकमें द्रौपदीके चीरका खींचना देखकर तुम और तुम्हारे साथी सैकड़ों दर्शक आँखोंसे आँसू बहा रहे थे और गहरी उसाँसें लेते थे । यह सब मिथ्या नाटक है; वास्तविक घटना नहीं है, यह जानकर भी उक्त दृश्यको सत्य मानकर तुम सबका हृदय सहानुभूतिसे भर आया था; पर तुम्हारी आँखोंके आगे तुम्हारे समाजकी सैकड़ों विधवाओं, सधवाओं और बालिकाओंपर जो अन्याय अत्याचार होते हैं, उन्हें देखकर मालूम नहीं तुम्हारी सहानुभूति कहाँ चली जाती है । आज तुम्हारे यहाँ न जाने कितनी अपक्व कन्यायें बलपूर्वक पत्नी और मातायें बनाई जाती हैं और इसतरह उनका सारा जीवन रूक्ष, नीरस, कष्टमय और भाररूप बना दिया जाता है । न जाने कितनी बालविधवायें और प्रौढ विधवायें उदरपोषणके फेरमें पड़कर पशुओंके समान जीवन व्यतीत करती हैं और उनमेंसे न जाने कितनी जानबूझकर और बिना जाने, अनीतिके फंदेमें फँस जाती हैं । क्या तुमने कभी इन दुःखोंके देखनेकी और उनके मूलकारणोंपर गंभीरतापूर्वक विचार करनेकी तथा उनके प्राकृतिक उपचार ढूँढनेकी चिन्ता की है ? क्या तुमने उनके एकान्तमें पड़ते हुए आँसुओंके देखने और गहरी उसाँसें सुननेकी कभी आवश्यकता समझी है ? क्या उनके फटते हुए हृदय और दुःखकी दाहसे दहकते

हुए दिल, तुमपर उस कल्पित नाटककी द्रौपदीके बराबर भी प्रभाव नहीं डाल सकते हैं ? अरे भाइयो ! तुम्हारे यदि आँखें हैं, तो उनका उपयोग इस नाटकके देखनेमें करो और यदि उनमें कुछ पानी बचाहुआ है तो उसे इस सच्चे नाटकमें धधकती हुई अग्निपर बहने दो । इसी प्रकार यदि तुम्हारे हृदय वर्तमान हो तो उसे इस अग्निमें झंपापातपूर्वक सुवर्णके सदृश शुद्ध होकर निकलने दो और यदि तुम्हारे मस्तिष्कमें केवल भूसा ही न भरा हो तो उसे इस आगके बुझानेका कोई अच्छा उपाय सोचनेमें लगा दो ! ”

मेरे मुँहसे अन्तिम वाक्य पूरा न निकल पाया था कि इतनेमें एक भयंकर कोलाहल सुनाई दिया । ऐसा मालूम होता था कि उस कोलाहलमें हजारों कोमल आवाजें शामिल हो रही हैं । मैंने अपने जीवनमें ऐसी चिल्लाहट पहले कभी नहीं सुनी थी । मैं अपने मित्रको बहुत ही निडर समझता था । रोगियोंके अंग उपांगोंको काटनेमें उसे ज़रा भी भय न मालूम होता था । परन्तु इस कोलाहलको सुनकर वह बहुत ही डरा और इच्छा न रहते भी चिल्ला उठा—“ बचाओ ! बचाओ ! ”

एक अदृश्य आवाज़से भी डरनेवाला और अनिश्चित भयसे भी बचनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य औरोंकी सहायता पानेके लिए तो तड़फता है—व्याकुल होता है, परन्तु औरोंके भयंकर दुःखके लिए उसके हृदयमें ज़रा भी स्थान नहीं होता—औरोंको बचानेकी उसे इच्छा ही नहीं होती ! हाय ! हाय ! मनुष्य कैसा आत्मवंचक है !

विधवाओंके समूहकी भयंकर चीखकी प्रतिध्वनि जड़ आकाशने तो गुँजा दी; परन्तु

मनुष्यके हृदयपर उसका कुछ भी परिणाम न हुआ ! ओ परमार्थकी पोशाकमें छुपे हुए स्वार्थी क्रीड़े ! आत्मवचकता छोड़ और अपने हृदयको चीरकर देख । कोई बालविधवा—जिसने अपने पतिका मुँह भी अच्छी तरह नहीं देखा है—मजबूर होकर फिरसे ब्याह करना चाहती है और इस तरह अपने निर्वाह और रक्षणका एक विश्वासपात्र साधन खोज लेना चाहती है, पर हे मनुष्य ! तू उसमें रुकावटें डालनेको तैयार होता है और इसमें अधर्मका 'हौआ' दिखलाकर डराता है । क्या तूने कभी इसका गहरा और वास्तविक कारण जाननेका प्रयत्न किया है ? तूने स्त्रीको चेतन नहीं, पर जड़ भोज्य पदार्थ मान रक्खा है और इस कारण तेरा भोगा हुआ पदार्थ फिरसे किसी दूसरेके भोगनेमें आ जायगा, इस खयालसे तुझे ईर्ष्या उत्पन्न होती है । परन्तु इस ईर्ष्याके भावको छुपाकर तू धर्मके सुन्दर, मनोमोहक बहानेको आगे खड़ा कर देता है और कहता है,—“एक जीवनमें दो पति ! महान् अधर्म ! महान् अनर्थ ! घोर कलियुग !” परन्तु रे ईर्ष्याके खिलौने ! यह तो कह कि अपनी स्त्रीके मरनेके पीछे दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं स्त्री ब्याहते समय तेरा वह धर्म कहाँ भाग जाता है ? यह अधर्मका शैतान उस समय तुझसे तोबा तोबा क्यों नहीं कराता ? तू अपने स्वार्थी हृदयसे तो पूछ । वह कहेगा कि तू भोक्ता है भोज्य नहीं, राजा है प्रजा नहीं, चेतन है जड़ नहीं । और भोज्यका अस्तित्व भोक्ताके लिए है, प्रजाका अस्तित्व राजाके लिए है, जड़का अस्तित्व चेतनके लिए है । वह यह भी कहेगा कि प्रजाको नहीं किन्तु राजाको कानून बनानेका अधिकार है और वे कानून प्रजाको ही बाधक हो

सकते हैं, राजाको ज़रा भी नहीं । इसी तरह स्त्री भी भोज्य और प्रजारूप है, अतः उसके लिए भोक्ता पुरुष ही कानून बनायगा; परन्तु स्वयं पुरुष उन कानूनोंसे मुक्त रहेगा ! तेरा हृदय स्पष्टतः यही कहेगा; परन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि तेरी समझमें स्त्री जड़ है चैतन्य नहीं ! तो अब तू ही बतला दे कि अधर्मी कौन है ? स्त्रीको हृदयसे जड़ समझनेवाला तू, या अपने जीवननिर्वाहके लिए—अपनी रक्षाके लिए—फिरसे ब्याह करनेके लिए लाचार होनेवाली बालविधवा ? जो बालिका 'पत्नी' बननेका अर्थ ही नहीं समझती थी, उसे जबर्दस्ती पत्नी बनाकर—ऐसे पथिककी जो कि शीघ्र ही स्मशानके नजदीक पहुँचनेवाला है—विधवापनेकी खाईमें धकेलनेवाला तू या तेरे ही समान व्यक्तियोंसे बने हुए समाजको छोड़कर और कौन है ? क्या कोई बालिका अपने पितामहकी उमरके बूढ़े खूसटकी पत्नी बननेकी इच्छा कर सकती है ? क्या कभी तूने या तेरे समाजने उसकी इच्छा जाननेकी चिन्ता की है ? क्या ऐसी घटनायें आये दिन नहीं हुआ करती हैं जिनमें कन्याके साफ़ इन्कार करनेपर भी वह जबर्दस्ती किसी बूढ़े या अयोग्यके साथ ब्याह दी जाती है ? और ऐसी दशामें उसका वैधव्य उस बेचारीका दोष है या समाजका ! तू समाजके दोषपर उस बेचारीको—बिना मारे मरी हुई गायको—दण्ड देनेके लिए तैयार होता है, क्या यही तेरा पुरुषत्व है, मनुष्यत्व है और धर्मकी व्याख्या है ? धर्मका 'ओ—ना—मा' न जानने पर भी धर्मकी शेखी मारनेवाले ओ ईर्ष्याके पुतले ! पहले यह तो बतला कि तेरा धर्म ब्याहकी भी आज्ञा कहाँ देता है ? जब जैनधर्म, आत्माके उद्धारके लिए जितनी प्रवृत्तियाँ की जाती

हैं उनके सिवाय दूसरी किसी भी प्रवृत्तिको पवित्र नहीं मानता है, तब ब्याह तो जैनधर्मकी दृष्टिसे पवित्र हो ही कैसे सकता है? यदि धर्महीसे प्रेम है तो अस्पृष्ट ब्रह्मचर्य धारण करो। ब्याह धार्मिक नहीं किन्तु व्यावहारिक सम्बन्ध है। भगवान् तीर्थकरोंने ब्रह्मचर्य पालनका आदेश किया है न कि ब्याह करनेका। विवाहपद्धति और विवाहके नियमोंकी योजना भी उन्होंने नहीं की है। आत्माका आनन्द ब्रह्मचर्यपालनमें, एकान्तवासमें और गिरिगुहाओं और पहाड़ोंमें एकाकी विचरण करते हुए आत्मचिन्तन करनेमें है। जो इस एकाकी सिंहवृत्तिको धारण करनेमें, असमर्थ हैं और जिन्हें संगी सहचारीकी आवश्यकता है व्यवहारशास्त्र उनके लिए रचे गये हैं। व्यवहारशास्त्र—जिन मनुष्योंके लिए—जिस समयके लिए—जिस भूमिके लिए आवश्यक होते हैं, उनकी प्रकृतियों योग्यताओं और आवश्यकताओंकी ओर दृष्टि रखके रचे जाते हैं। सारे देशों और सारे स्वभावोंके लिए एक सा व्यवहारशास्त्र नहीं हो सकता, अर्थात् उन्नतिक्रमकी जुदी जुदी सीढ़ियोंपर खड़े हुए जीवोंके लिए एकहीसे कानून उपयोगी नहीं हो सकते। महलका रहना चाहे जितना अच्छा हो, पर झोपड़ोंमें रहनेवालोंके लिए यह कानून नहीं बनाया जा सकता कि तुम अपने झोपड़ोंको तोड़ डालो और विना विलम्बके महल बनाओ; नहीं तो तुम्हें दण्ड दिया जायगा।

कानून बनानेवालेका लोगोंको इस बातके लिए मजबूर करना तो उचित है कि तुम अपने झोपड़े स्वच्छ रखो और उनके आसपास किसी तरहकी गंदगी न रहने दो जिससे कि पड़ोसियोंको कुछ हानि पहुँचे। उसका यह भी कर्तव्य है कि झोपड़ेवालोंकी आर्थिक और

मानसिक शक्तिओंको विकसित करनेके लिए उचित उपायोंकी योजना कर दे, जिससे वे धीरे धीरे अच्छे और सब तरहकी सुविधाओंवाले मकानोंमें रहनेकी इच्छा करने लगें और अपनी इस इच्छाको पूर्ण करनेमें समर्थ बनें। विवाह आदि व्यावहारिक क्रियाओंके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। धर्मदृष्टिसे विवाह इष्ट नहीं है; परन्तु सारे ही मनुष्योंमें ऐसी शक्ति नहीं हो सकती कि वे सिंहके समान एकाकी और आत्मसन्तुष्ट रहकर विचरण कर सकें, इस ख्यालसे समाजको 'विवाह' इष्ट मानना पड़ा। पहले कहा जा चुका है कि विवाह 'धर्म', नहीं, 'व्यवहार' है और कोई भी व्यवहार स्थिर या निश्चित नहीं हो सकता। इसीसे जुदे जुदे देशों और और जुदे जुदे समयोंके विवाहसम्बन्धी कानून जुदे जुदे रहे हैं। एक समय ऐसा था कि जब भाई बहिन एक साथ जन्म लेते थे और योग्य वय प्राप्त होने पर परस्परमें विवाह कर लेते थे। ऐसा भी एक समय था जब एक स्त्रीके अनेक पति होते थे। एक पतिकी हज़ारों स्त्रियोंकी कथाओंसे तो हमारे शास्त्र भरे हुए हैं। हिन्दू धर्मके पुराणोंसे एक ऐसे समयका भी पता चलता है जब राजाके जीते जी राजमहिषी इच्छित पुत्रकी प्राप्तिके लिए किसी ऋषिके आश्रममें कुछ कालके लिए भेज दी जाती थी! परन्तु इन सब रूढ़ियोंमें तात्कालिक स्त्रीपुरुषोंको कोई अनौचित्य, अनीति या अधर्म नहीं मालूम होता था। इसका कारण यही है कि स्त्रीपुरुषका सम्बन्ध—ब्याह—धर्मका अंग नहीं किन्तु व्यवहारका अंग है और व्यवहारकी सृष्टि समाज स्वयं करता है, इसलिए उसे उसमें भयंकरता, बीभत्सता या अनौचित्य नहीं जान पड़ता।

समाज अपनी परिस्थितियों, आवश्यकताओं और सासियतोंके अनुकूल 'व्यवहार' बनाता

है और ज्योंही कोई नई परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है त्योंही पूर्वके व्यवहारको तोड़ देता है या बदल देता है। जो समाज बनाने और तोड़नेकी शक्ति रखता है उसीको जीता जागता समाज कहना चाहिए और वही उन्नतिपथका पथिक बना रह सकता है। 'बनाना' और 'तोड़ना' ये दो क्रियायें आरोग्य और उत्क्रान्तिकी निशानियाँ हैं। जो समाज तोड़ नहीं सकता वह बना भी नहीं सकता।

वास्तवमें अखण्ड ब्रह्मचर्य ही इष्ट है। यही धर्म है और यही मनुष्यका लक्ष्यबिन्दु होना चाहिए। परन्तु जैसे भूमिके भीतर गड्ढे खोदकर रहनेवाले मनुष्य झोपड़ोंमें रहनेके लिए लाचार नहीं किये जा सकते और झोपड़ोंमें रहनेवाले महलोंमें रहनेके लिए मजबूर नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार वासनाओं और आवश्यकताओंवाले संसारी मनुष्य अखण्ड ब्रह्मचर्य पालनेके लिए मजबूर नहीं किये जा सकते। यद्यपि ब्याह करना समाजकी दृष्टिमें कोई अधर्म और अपराध नहीं है, तो भी बहुतसे उच्च श्रेणीके मनुष्य ब्याहके या वासनाओंके कुएमें पड़ना पसन्द नहीं करते; वे अपनी बुद्धि और आत्माके भीतर ही अपने इच्छित आनन्दकी प्राप्तिके लिए प्रयास करते हैं। जिन देशोंमें एक पतिके मरने पर दूसरे पतिका कर लेना बुरा नहीं समझा जाता है उन देशोंमें भी बहुत सी स्त्रियाँ पुनर्विवाह करना पसन्द नहीं करतीं—इससे घृणा करती हैं। यद्यपि ऐसा कोई कानून न पहले था और न अब भी है कि पतिके मरनेके बाद स्त्रीको मर ही जाना चाहिए, तो भी हज़ारों स्त्रियाँ अपनी इच्छासे अपने पतियोंके लिए जल मरी हैं और अब भी जल मरती हैं। मनुष्य हमेशा अपनी खासियतों (Charactristick) के अनुसार ही चलता है।

इन खासियतों पर जुल्मी हथोड़ा मारनेसे कुछ भी लाभ नहीं होता। मर्यादित अंकुश और मार्गसूचन करते रहनेसे ही ये खासियतें उच्च बनाई जा सकती हैं। समाजको इस नियमकी सत्यता समझ लेनी चाहिए और इसीके अनुसार अपने व्यवहार शास्त्रमें अखण्ड ब्रह्मचर्य, एक ही बारका ब्याह और पुनर्विवाह इन तीनोंको यथोचित स्थान देना चाहिए। समाजके नियम ऐसे होने चाहिए जिनसे सब तरहके—योग्य अयोग्य—समर्थ असमर्थ—संयमी और इन्द्रियासक्त जीवोंका निर्वाह होता जाय और वे धीरे धीरे आगे बढ़ते चले जायें। ब्रह्मचर्य पालन करनेका सबसे ऊँचा व्रत तमाम व्यक्तियोंके लिए अनिवार्य—अवश्य पालनीय नहीं ठहराया जा सकता; और यदि ठहराना ही हो, तो पहले उस व्रतको पोषण करनेवाला वातावरण उत्पन्न कर देनेका प्रयत्न करना चाहिए। 'स्त्रीको पुनर्विवाह करना ही न चाहिए' यदि यह उच्च श्रेणीका नियम प्रचलित करना हो, तो समाजको दो बातोंकी तैयारी कर रखना चाहिए। एक तो स्त्रीको पति ऐसा सुयोग्य मिलना चाहिए कि जिससे उसके मरनेके बाद भी उसके हृदयमें उसका स्मरण जागृत बना रहे और दूसरे पुरुषकी पत्नी बननेका विचार भी उसे बुरा मालूम हो। ऐसा होनेके लिए यह आवश्यक है कि रोगी, निर्बल, बुद्धिहीन, अनुभवहीन, दाम्पत्य प्रेमकी पवित्रता तथा निस्वार्थताको न समझनेवाले और निर्वाहकी शक्तिसे रहित स्त्री—पुरुष ब्याह ही न कर सकें—ऐसे अयोग्योंको ब्याह करनेका अधिकार ही न रहे। यदि ऐसा हो जाय तो स्त्रीको ब्याहके बाद जो सुख मिलेगा उस सुखका स्मरण उसे इतना मीठा लगेगा कि उसे भुला देनेके लिए या पुनर्विवाहके लिए वह प्रायः तैयार

ही न होगी। दूसरी तैयारी जो समाजको कर रखना चाहिए वह यह है कि विधवाओंको पतिके मर जानेसे—पतिकी रक्षा, सहायता और शिक्षा बन्द हो जानेसे—जिन जिन अड़चनों और भयोंके होनेकी संभावना रहती है उनसे बचनेके लिए कोई अच्छी और नियमित व्यवस्था कर दी जाय—उन्हें केवल कुटुम्बियोंकी दया पर न छोड़ दिया जाय।

इस दूसरी तैयारीके विषयमें तीन बातोंपर अधिक विचार करनेकी जरूरत है। एक तो इस बातको समाजका प्रत्येक मनुष्य स्वीकार करेगा कि पेटका गढ़हा भरे बिना किसी भी प्राणिका—बड़ेसे बड़े महात्माका भी नहीं चल सकता। दूसरे स्त्रियोंको हमने उनकी इच्छा जाननेकी परवा किये बिना ब्याहके पीजरेमें डालकर, सुन्दर परन्तु स्वतंत्रतापूर्वक उड़नेकी शक्तिसे रहित पक्षी बना रक्खा है। तीसरे सामान्यतः, पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें कामवासना अधिक होती है।

१-२ पक्षी सुन्दर है, मधुर स्वरसे गाता है, और हमारी इन्द्रियोंको सुख देता है, इस कारण हम उसे पीजरेमें—सोनेके पीजरेमें—बन्द करके रखते हैं; परन्तु यह क्या हमारा धर्म है! यदि पीजरेमें बन्द किये बिना हमारा मन नहीं मानता है तो इतना तो अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि पाँच दस वर्षके बाद—अपनी मृत्यु हो जानेपर यदि वह छोड़ दिया जायगा तो पंखोंके निकम्मे हो जानेसे उड़ नहीं सकेगा और अपना पोषण और रक्षण न कर सकेगा, इस लिए या तो हमें पक्षीको पीजरेमें रखना ही न चाहिए, या जब तक वह जीता रहे तब तक हमें मरना न चाहिए। (जैसा कि जुगलियोंके समयमें था—जोड़ी एक साथ जन्म लेती थी और एक ही साथ मरती

थी।) और यदि मरना—जीना हमारे हाथमें न हो, तो उस निराधारको कोई नया आधार तलाश करनेमें हमें बाधक न बनना चाहिए। यदि पितृगृह या स्वसुरगृहमें यथेष्ट आधार मिलता हो और वे उसे भार समझकर कष्ट न देते हों तो उदरनिर्वाहकी कठिनाईका प्रश्न हल हो जाता है; परन्तु १०० में प्रायः ८० उदाहरण—बड़े बड़े धनियोंके घरोंमें भी—ऐसे मिलते हैं कि वहाँ विधवायें भार ही मानी जाती हैं। उनका सारा जीवन नीरस, रूक्ष, और दुःखमय बना रहता है। इस लिए या तो समाजको सारी विधवाओंके लिए आश्रम खोलना चाहिए जहाँ उनकी परवरिश हो और सत्संगति, विद्याव्यासंग आदिके कारण उनका जीवन भाररूप न बनकर सहा बन सके। या यदि ऐसे आश्रम खोलनेके लिए समाज तैयार न हो तो और किसी मतलबसे नहीं केवल उदरनिर्वाहके लिए ही, विधवाओंको यदि वे चाहती हों तो—अपना दूसरा सहारा तलाश कर लेनेमें बाधा न डालना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि दूसरा सहारा किस प्रकारका मिल सकता है? या तो कोई धर्मात्मा अपनी धर्मबहिन मानकर उसका पालन पोषण करे, या कोई स्वार्थी आत्मा उसे पत्नी बनाकर अपने आश्रयमें रखले। इनमेंसे पहले प्रकारके उदाहरण पुरुषोंकी संख्या संसारमें बहुत ही थोड़ी है; अधिक संख्या दूसरे प्रकारके लोगोंकी है। अतः ऐसे ही लोगोंका सहारा विधवाओंको लेना पड़ेगा। यह सच है कि यह मार्ग कोई अच्छा मार्ग नहीं है—प्रेमके उच्च आदर्शसे गिरा हुआ है—परन्तु किया क्या जाय, और कोई उपाय भी तो नहीं है।

३ ऊपर लिखी हुई तीन बातोंमें तीसरी बात कामवासनाकी है। इसके विषयमें विचार करनेसे मालूम होता है कि कामवासनाका

होना एक प्रकारकी आत्मिक निर्बलता है । कामवासनाके विरुद्ध युद्ध करने और उसमें विजय-प्राप्त करने लिए बड़े भारी आन्तरिक बलकी और आत्मज्ञानरूपी शस्त्रकी आवश्यकता है । जिस तरह राजाका अपने शत्रुके विरुद्ध लड़नेके लिए निर्बल और निःशस्त्र मनुष्योंका भेजना अन्याय है, उसी प्रकार काम जैसे प्रबल शत्रुके सामने-जिससे कि बड़े बड़े ऋषि मुनि भी हार मान गये हैं-आन्तरिक बल और आत्मज्ञानहीन व्यक्तियोंका-चाहे वे पुरुष हों या स्त्री-लड़नेके मजबूर किया जाना भी अस्वभाविक और पागलपन है । जब दो असमान पक्षोंमें युद्ध होता है तब उसका परिणाम निर्बल पक्षकी हार ही होती है यह जाननेपर भी-इस खयालसे कि पराजयसे या हारसे भी बल मिलता है, यदि अशक्त व्यक्तियों कामसेनाका सामना करनेके लिए भेजी जायँ, तो ऐसी दशामें भेजनेवाले समाजको युद्धके परिणाम पर अप्रसन्न न होना चाहिए । अर्थात् वे निर्बल व्यक्तियों कामसेनाके प्रबल आक्रमणके सामने कुछ समय तक साहससे लड़तीं रहकर यदि अन्तमें हार जायँ-कामसेनाके वश हो जायँ तो इसके लिए हारनेवाली व्यक्तियोंको अधर्मी, पापी, नीच, व्यभिचारी आदि उपनामोंसे तिरस्कृत या जातिबहिष्कृत आदि दण्डोंसे दण्डित न करना चाहिए । यदि ऐसी सहिष्णुता-ऐसी उदारवृत्ति समाज न रख सके-यथेष्ट आत्मबल और ज्ञानशस्त्रके अभावके कारण यदि किसी स्त्रीपुरुषका कामसेनासे हार जाना या विषयसेवन करने लगना समाजसे सहन न हो सके, तो उसे चाहिए कि ऐसे स्त्रीपुरुषोंको कामसेनाके सामने युद्धके लिए जाने और विजय करके ही आनेको मजबूर न करे । ऐसा करना प्रकृतिविरुद्ध, अन्याय और नादि-

रशाही आज्ञाके सिवाय और कुछ नहीं है । जिस शत्रुको पुरुषवर्ग भी-जो स्त्रियोंकी अपेक्षा अधिक बलवान्, ज्ञानवान्, और अनुभवी है-पचास वर्षकी उमर हो जाने पर भी नहीं जीत सकता है, वही शत्रु, अपरितृप्त अज्ञान, अनुभवहीन स्त्रियों-अबलाओंके द्वारा जीता ही जाना चाहिए, ऐसी आज्ञा देनेवाले सचमुच ही बहुत बड़े साहसका कार्य करते हैं । आश्चर्यकी बात तो यह है कि ये लोग इधर तो 'स्त्रियोंको विकारवश होना ही न चाहिए-उन्हें सदा ब्रह्मचर्यसे ही रहना चाहिए' इस तरहकी अस्वाभाविक आज्ञा जारी करके प्रकृतिपर शासन करनेका दम भरते हैं और उधर आप स्वयं एकके बाद एक चाहे जितने ब्याह करते जाते हैं । सन्तान होने पर भी ब्याह करते हैं, बूढ़े हो जाने पर भी ब्याह करते हैं, एक स्त्रीके होने पर भी दूसरा ब्याह करते हैं और इतनेपर भी तृप्ति नहीं होती है तो छुपकर या प्रकटरूपसे एक दो गैर स्त्रियोंसे भी पण्यस्त्रियोंसे भी सम्बन्ध रखते हैं । स्वयं इनके चरित्रकी यह दशा है तो भी यदि कोई अपरितृप्त बालविधवा फिरसे ब्याह करनेकी इच्छा करती है, तो ये उसे अधर्मिणी, पापिनी, दुष्टाके विशेषण लगानेके लिए तैयार रहते हैं ! यह क्या समाजका साधारण अन्याय और अज्ञान है ? हमारा समाज चालीस या पचास वर्षके पुरुषका पाँचवाँ ब्याह सूत्र ठाठवाट और आनन्द उत्साहके साथ करता है और इसमें ज़राभी अधर्म, अनीति या अनौचित्य नहीं समझता है, पर उसीकी ही मूर्खतासे बालपनमें विधवा बनी हुई कोई निराधार स्त्री यदि कामसेनाके सामने युद्ध करनेमें ज़रा भी आनाकानी करती है तो उस पर अपने सारे अन्यायी अस्त्र शस्त्रोंको लेकर टूट पड़ता है । मालूम नहीं यह किस प्रका-

रका धर्मसिद्धान्त है। यदि कामवासनाको जीतना ही धर्म है, तो यह पुरुष और स्त्री दोनोंके लिए एक सा पालनीय होना चाहिए। अपने पचास वर्षकी उमरके पिता, काका या मामा आदिको नई ब्याही हुई १४-१५ वर्षकी बालिकाके साथ हँसते-आनन्द करते देखकर एक बाल-विधवाका ब्रह्मचर्यमें अटल रहना, हम नहीं समझते कि हमारा समाज कितना सहज सझ-ज्ञता है !

समाजका कर्तव्य है कि वह इन सब बातों-पर अच्छी तरह विचार करे और ब्याहको धार्मिक नहीं किन्तु व्यावहारिक बन्धन समझ कर इसके लिए नये सिरेसे उचित नियमोंका संगठन करे। समाजसंरक्षणके लिए उचित नियमोंके संगठनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसके बिना स्वच्छन्द दुराचार आदि अनिष्टकर दोष दूर नहीं हो सकते। समाजके नियम जुदी जुदी प्रकृतियों, न्यूनाधिक योग्यताओं, और कुदरतके कानूनोंको ध्यानमें रखकर बनना चाहिए जिससे छोटे बड़े, धनी निर्धन, पण्डित मूर्ख आदि सबको स्थान मिले और सबोंकी क्रमशः उत्क्रान्ति होती रहे। नियमसंगठन करते समय निम्न लिखित बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिए:—

१ अखण्ड ब्रह्मचर्यको श्रेष्ठ पद दिया जाय और यह मूर्खतापूर्ण विचार दूर कर दिया जाय कि पुरुष या स्त्रीके लिए विवाह करना अनिवार्य है—लाजिमी है, और यह प्रचार कर दिया जाय कि यदि वे चाहें तो आजन्म ब्रह्मचारी भी रह सकते हैं।

२ ब्याह पृष्ठ अवस्थामें किये जायँ जिससे शरीरबल, मनोबल, अनुभव, बुद्धिवैभव आदिका यथेष्ट विकास हो सके और स्त्रीपुरुष दोनों ही

अपने विवाहित जीवनको एक वीरयोद्धाके समान बिता सकें तथा विपत्तियों, प्रतिस्पर्द्धाओं, और प्रलोभनोंके आनेपर उनसे सफलतापूर्वक युद्ध कर सकें।

३ योग्य वय और योग्य शक्तियाँ प्राप्त कर चुकनेपर जो पुरुष या स्त्री आविवाहित जीवन व्यतीत करना चाहें वे श्रेष्ठ मनुष्य समझे जावें—उनका खूब सम्मान किया जाय और जो सारी योग्यतायें प्राप्त करके ब्याह करनेके लिए तैयार हों, समाजमें उन्हें दूसरे नम्बरका स्थान दिया जाय।

४ योग्यता प्राप्त करनेके बाद जो ब्याह—सम्बन्ध होंगे हमारा विश्वास है कि वे चिरस्थायी सुखप्रद होंगे और इस लिए ऐसे सुखी स्त्रीपुरुषोंमेंसे बहुत कम ऐसे निकलेंगे जो एकके मरनेपर दूसरा सम्बन्ध करनेके लिए तैयार हों। उनकी इच्छा ही न होगी कि हम दूसरा ब्याह करें। यदि किसीकी ऐसी इच्छा हो तो उसकी गणना (चाहे वह पुरुष हो या स्त्री) तीसरे दर्जेमें करना चाहिए और समाजको उसकी परिस्थितियोंके अनुसार ब्याह करने न करनेकी आज्ञा देनी चाहिए।

५ जिन कारणोंसे विधवा स्त्रियोंको फिरसे ब्याह करनेकी इच्छा होती है, उन्हें मिटानेके लिए विधवाश्रम खोलने चाहिए। इन आश्रमोंमें विधवाओंका पालन—पोषण भी होगा, आत्मबल और संयमकी शिक्षा भी मिलेगी और पारस्परिक सहवास, सहानुभूति और आश्वासनोंका भी लाभ होगा। इन आश्रमोंपर उच्चश्रेणीकी ब्रह्मचारिणियोंकी बहुत ही कड़ी—बहुत ही कठोर देखरेख होनी चाहिए और ऐसी शिक्षा देनेका प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वे निःस्वार्थ सेविकाओंके समान समाजकी सहायिका बन सकें।

६ नये नियमोंकी सृष्टि करनेकी इच्छा रखनेवाले समाजको यह बात स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे कोई भी सुधार न कभी हुए हैं और न होंगे जिनसे केवल लाभ ही होता हो, किसी प्रकारकी परोक्ष हानि बिलकुल ही न होती हो । अतः यदि हम अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए कोई 'सुधार' कर रहे हों और उसमें कोई परोक्ष हानि नजर आती हो—जो कि बिलकुल स्वाभाविक और अनिवार्य है—तो इससे हमें निराश या हतोत्साह न हो जाना चाहिए । जीवन एक युद्ध है । इस युद्धमें बलवान् पक्ष भी चोट खाये बिना विजय प्राप्त नहीं कर सकता ।

इन सब बातों पर ध्यान रखकर स्त्रीवर्गको समाजका सुखी, बलवान्, पवित्र और उपयोगी अंग बनानेका प्रयत्न करना चाहिए । इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है । जिस समाजका लगभग आधा भाग दुखी, निर्बल, अज्ञान, भाररूप, निरूपयोगी, शाप देनेवाला और उसाँसे लेनेवाला है, कैसे आशा की जा सकती है कि वह समाज कभी व्यवहारमें या धर्ममें ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकेगा ?

ये सारे विचार मेरे मस्तिष्कमें केवल पाँच मिनटके भीतर उत्पन्न हुए थे । जिन विचारोंके लिखने या प्रकट करनेमें घंटों लग जाते हैं, उनके उत्पन्न होनेमें कुछ ही मिनट लगते हैं । मेरे मित्र डाक्टर साहब अभी तक मूर्च्छित ही थे । अब मैंने उनकी आँखोंपर ठंडे जलके छींटे डाल कर उन्हें सचेत किया और उनसे उस दृश्यका वर्णन सुना जो उन्होंने अपनी मूर्च्छित-तावस्थामें अनुभव किया था । उन्होंने देखा था कि हजारों बालाओं, माताओं और विधवाओंकी एक बड़ी भारी फौज बड़े भारी वेगसे पुरुषोंकी

ओर दौड़ी हुई जा रही है और भयंकर शब्द करती हुई उनपर टूटी पडती है । यहाँ उस दृश्यका पूरा वर्णन करना मैं उचित नहीं समझता । मुझे आशा नहीं कि पाठक उसे मेरे मस्तिष्कके विकारको छोड़कर और कुछ समझेंगे;—यद्यपि मैं उसे एक प्रकारकी भविष्यवाणी समझता हूँ । क्योंकि मुझे प्रकृतिका यह नियम और इतिहासका यह पाठ बिलकुल सच जान पड़ता है कि “जिस समय राजा बहुत ही स्वेच्छाचारी और अत्याचारी हो जाता है उस समय प्रजामें न जाने कहाँसे एक अकल्पित बल आ जाता है । वह बलवा मचा देती है और अपने कंधेपरसे राजाकी अमर्यादित सत्ताके जूँको तोड़-मरोड़ कर फेंक देती है ।”

मैंने कहा—“डाक्टर साहब, अब उस भयंकर दृश्यको भूल जाओ । संसार दुःखपूर्ण है । इन दुःखोंको देखकर स्वयं दुखी होना कोई वीरताका काम नहीं है । बुद्धिशाली दृष्टा वह है जो दुःखोंसे जुदा रहकर उनका अवलोकन करता है और उनमेंसे नवीन ज्ञान और नवीन शक्ति प्राप्त करता है । तुम रुपये पैसे खर्च करके कल्पित नाटक और तमाशे देखा करते हो, पर सच कहो अपने समाजके ये दो सच्चे नाटक जो हम दोनोंने अभी देखे हैं क्या कम दर्शनीय और आकर्षक हैं ? चलो, अब मैं तुम्हें उक्त दोनों नाटकोंसे भी अधिक दर्शनीय एक और नाटक दिखलाता हूँ । देखो, उस ओर गणेशजीके बाहन श्रीमान् मूषक महाराज—अपने गहन शास्त्रोंका अध्ययन कर रहे हैं !

[शेष आगे ।]

* * * जैनहितैषीके इस नये शरीरके लिए जो शृङ्गार या मुस्तपृष्ठ मेरी सम्मतिसे तैयार करवाया गया है उसका भाव समझानेके लिए

एक लेखकी आवश्यकता समझी गई और तदनुसार यह लेख सम्पादक महाशयकी प्रेरणासे लिखा गया । इसके सम्बन्धमें मैं यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मैं किसी पंथ या फिरकेका नहीं किन्तु सत्यका अनुयायी हूँ । सुधारकोंकी किसी सभा सुसाइटीका मैं म्बन्ध नहीं । वर्तमानमें जिन्हें लोग सुधारक कहते हैं उनका भक्त या अनुगामी भी मैं नहीं हूँ । मेरी समझमें इन सुधारकोंकी बुद्धिमें गहराई और हृदयमें शुद्धभाव बहुत ही कम होता है । मैं अपने अनुभवसे अभ्याससे, और सदसद्विवेक बुद्धिसे सत्यके जिस अंशको पाता हूँ, अथवा मुझे जो कुछ सत्य मालूम होता है उसे स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट कर देता हूँ । मेरे विचार किसीकी समझमें आवें या न आवें, अच्छे लगे या न लगे, इसकी मैं परवा नहीं

करता । साथही मैं इस प्रकारकी अस्वाभाविक इच्छा भी नहीं रखता कि मेरे विचारोंको सब कोई मान ही लेंगे । मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि मेरे विचारोंको पाठक अच्छी तरहसे सुनें और समझें; मानना न मानना उनकी मर्जी पर है । मैं इस प्रकारकी मूर्खतापूर्ण आशा कदापि नहीं रखता कि मेरे या किसीके एक लेख मात्रसे समाजसुधार हो जायगा । समाज में विचारवातावरण फैले, बुद्धिपूर्वक विचार करनेकी शक्ति बढ़े, सिर्फ यही मेरा लक्ष्य बिन्दु है । इस लेखका शेषभाग आगेके अंकमें पूरा किया जायगा । तब तक पाठकोंको चाहिए कि वे चित्रका शेष भाग—विशेषकर नीचेका भाग क्या सूचित करता है, इसका अपने स्वतंत्र प्रयत्नसे विचार करें और अपने बुद्धिबलको बढ़ावें ।

—लेखक ।

नये वर्षका निवेदन ।

इस अंकके साथ जैनहितैषीका नया वर्ष शुरू होता है । पूर्व सूचनाके अनुसार इसके आकार-प्रकारमें बहुत सा परिवर्तन किया गया है । आशा है कि पाठकगण इस परिवर्तनको पसन्द करेंगे और इसे स्थायी बनाये रखनेके लिए हमारा हाथ बैटाते रहेंगे ।

* * *

हितैषीकी ग्राहकसंख्या इतनी कम है कि उसके भरोसे—ऐसे समयमें जब कि कागज स्याही आदिके चार्ज खूब बढ़ रहे हैं—यह परिवर्तन हम कदापि नहीं कर सकते यदि हमें यह विश्वास न होता कि इस आकार-प्रकारसे

पाठक प्रसन्न होंगे और वे इसे जैनसमाजके गौरवका कार्य समझकर हमारी यथेष्ट सहायता करेंगे । हमको आशा है कि इस वर्ष कुछ अधिक ग्राहक मिल जायेंगे और उनसे हमारा काम चल जायगा । यदि हितैषीका स्वर्च ही उसके ग्राहकोंसे चल गया, अथवा अधिकसे अधिक सौ दो सौका घाटा भी रह गया (क्यों कि इससे अधिक घाटा उठानेकी हमारी शक्ति नहीं है) तो यह हमारे संतोषके लिए यथेष्ट है । इतनेहीसे हम इसके वर्तमान आकारको स्थायी कर देंगे ।

* * *

हितैषीकी लेख-संकलन-शैलीमें भी एक महत्त्वका परिवर्तन किया गया है और इससे अब इसका विचार-क्षेत्र बहुत विशाल बन गया है। अभीतक जैनसमाजके-विशेषकर दिगम्बर सम्प्रदायके जितने पत्र निकलते हैं प्रायः उन सबके विचारोंकी सीमा केवल जैन-धर्म, जैनसाहित्य और जैनसमाज तक ही परिमित है; इस क्षेत्रके बाहर वे शायद ही कभी कदम बढ़ाते हों। उनकी इस शैलीको हम बुरा नहीं समझते हैं। कमसे कम किसी समाज-को जगानेके लिए शुरू शुरूमें तो यह शैली अवश्य ही लाभदायक है, परन्तु गत २५ वर्षोंमें जैनसमाजकी जितनी प्रगति और बौद्धिक उन्नति हुई है, वह हमें इसीमें सन्तुष्ट नहीं रख सकती—अब वह अपनी परिमित सीमासे बाहर क्या है सो भी जाननेके लिए उत्काण्ठित करती है। वह कहती है कि केवल घरके भीतरकी बातें जान लेनेसे ही घरका पूरा और सुनिश्चित ज्ञान नहीं हो सकता—इसके लिए बाहरके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। बाहरके ज्ञानसे घरकी खूबियाँ और भी अच्छी तरह समझी जा सकती हैं। केवल घरमें ही घुसे रहनेसे उलटा नुकसान होनेका डर रहता है। संभव है कि बाहरकी ओरसे आँखें बन्द किये रहनेवाला मनुष्य बाहरको बिलकुल ही भुला दे और यह समझ बैठे कि बाहर कुछ है ही नहीं—अथवा बाहर जो कुछ है सभी बुरा है। अब हमारा समाज इस योग्य हो चला है कि बाहरसे भी ज्ञान सम्पादन करे और उससे अपनी भीतरी दशाका सुधार करे। इस ख्यालसे जैनहितैषीमें जैनजगतसे बाहरके लेख भी प्रकाशित किये जायेंगे। प्रसिद्ध प्रसिद्ध देशी विदेशी स्त्री पुरुषोंके जीवनचरित, वैज्ञानिक सोजें, ईसाई, जर्थास्त, बौद्ध, कनफ्यूसिस

आदि धर्मोंके परिचय, पाश्चात्य तत्त्वज्ञानियोंके विचार, भारतीय इतिहाससम्बन्धी नई नई खोजें, साहित्यकी आलोचनायें, मनोरंजक गल्पें उपन्यास आदि सभी विषयोंका ज्ञान इन लेखोंके द्वारा बढ़ाया जायगा।

* * *

ज्ञानविस्तारके साथ साथ हम यह भी चाहते हैं कि हमारे पाठक स्वतंत्र विचार करना सीखें-केवल दूसरोंके ही अनुगामी न बने रहें। इसके लिए यह आवश्यक है कि जब किसी विषयकी चर्चा उठे, कोई आन्दोलन शुरू हो, तब उस विषयकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों बाजुयें पाठकोंके सन्मुख रखी जायँ। ऐसा करनेसे पाठक प्रत्येक विषयको दोनों दृष्टियोंसे देख सकेंगे और तब अपना स्वतंत्र विचार स्थिर कर सकेंगे। हम किसी एक पक्षके नहीं किन्तु 'सत्य'के अनुयायी हैं और मनुष्यमात्रको इसी 'सत्य' धर्मका अनुयायी होना चाहिए। संभव है कि एक पदार्थको हमने जिस रूपमें देखा है, वह वैसा न हो; क्योंकि हम छद्मस्थ हैं और हमसे प्रतिकूल विचार रखनेवालेने उसे वास्तविक रूपमें देखा हो—उसके ज्ञानका क्षयोपशम विशेष हो गया हो। ऐसी दशामें क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम अपनेसे विरुद्ध विचारोंको भी प्रकाशित करें और इस तरह लोगोंको 'सत्य' की प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त कर दें? इसी कर्तव्यके अनुरोधसे जैनहितैषीमें ऐसे भी लेख प्रकाशित होंगे जिनसे सम्पादक सहमत नहीं है अथवा जिनसे वह स्वयं विरुद्ध है—शर्त यह है कि वे अच्छे विचारशील और निष्पक्ष विद्वानोंके लिखे हुए या प्रकट किये हुए होना चाहिए। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे जैनहितैषीके किसी लेखको पढ़कर यह विश्वास न कर लें कि उसके विचारोंसे सम्पादक सहमत

है; इसी प्रकार यह भी न समझ लें कि वह उनसे विरुद्ध है। विरुद्ध और अविरुद्ध इन दोनों बातोंका ख्याल न रखके पाठकोंके ज्ञान-विस्तारके उद्देश्यसे सब लेख प्रकाशित होंगे। यहाँ यदि हम अपने पाठकोंसे सहनशीलता-मतसाहिष्णुता रखनेके लिए प्रार्थना करें तो अनुचित न होगा। उन्हें यह ध्यानमें रखना चाहिए कि किसीके एक लेखसे या एक विचारसे साधारणजनताका कोई विश्वास या विचार बदला नहीं जा सकता है। लेख कोई जर्मनकी प्रलयंकारी तोप नहीं है जो एक ही फायरमें किसी विश्वासके किलेको धाराशायी कर दे। इसके सिवाय जो लोग किसी ऐसे लेखको पढ़ते हैं वे उसके विरुद्ध लेखों और विचारोंको भी तो पढ़ते सुनते रहते हैं। अतः किसी विरुद्धविचारपूर्ण लेखसे उत्तेजित हो जाना, अधीर हो जाना या उसके प्रकाशकको शत्रु समझने लगना कदापि उचित नहीं है। उचित यह है कि ऐसे लेखोंको पढ़कर विचार किया जाय और यदि उनमें दोष मालूम हों तो उनकी विरुद्ध आलोचना लिखी जाय या लिखवाई जाय।

* * * * *

मनुष्यके जीवनमें मुख्य चीज़ उसका चरित्र है। चरित्रसे बढ़कर कोई भी बहुमूल्य चीज़ नहीं है। जीवनकी सफलता असफलता एक मात्र चरित्र पर निर्भर है। चरित्रसे ही मनुष्यकी प्रतिष्ठा है। धनमें इतनी शक्ति नहीं जितनी चरित्रमें है। चरित्रका प्रभाव अद्भुत है। जैसे सूर्यका प्रकाश छोटे छोटे छेदोंमेंसे दृष्टिगोचर होता है वैसे ही छोटी छोटी बातोंसे मनुष्यके चरित्रका अनुमान किया जा सकता है। छोटे छोटे कामोंको अच्छी तरह करनेसे ही चरित्र निर्माण होता है और यह प्रति दिन होता रहता है। चरित्रगठनके

इस अंकमें दो सुन्दर चित्र प्रकाशित किये जाते हैं। ये हमें 'महावीरजीवनविस्तार' नामक सुलिखित गुजराती पुस्तकके प्रकाशक श्रीयुक्त मेघजी हरिजीकी कृपासे प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक चित्रका परिचय पाठकोंको श्रीयुक्त पं० गिरिधर शर्माकी 'महावीर और स्वावलम्बन' नामक कवितासे मिलेगा और दूसरेका भक्तामरस्तोत्रके पन्द्रहवें पद्यसे। पहला चित्र श्वेताम्बरसम्प्रदायकी एक ऐसी कथाके आधार पर बनाया गया है जो बहुत ही शिक्षाप्रद है और जिससे तीनों सम्प्रदायके अनुयायी लाभ उठा सकते हैं। हम चाहते हैं कि हितैषीके प्रत्येक अंकमें इस प्रकारके चित्र प्रकाशित हों; परन्तु इस तरहके प्रत्येक चित्रके बनवाने और प्रकाशित करनेमें लगभग ३५-४० रुपये खर्च होते हैं और इतना खर्च तब किया जा सकता है जब हितैषीकी आर्थिक अवस्था अच्छी हो और उसे सन्तोषयोग्य ग्राहक मिल जायँ। यदि हो सका तो हम आगामी अंकोंमें इस प्रकारके और भी दो चार चित्र प्रकाशित करनेका प्रयत्न करेंगे।

लिए किसी विशेष कार्य और विशेष समयकी आवश्यकता नहीं। किसी मनुष्यके चरित्रकी सबसे अच्छी पहिचान यह है कि वह दूसरोंके साथ किस तरह व्यवहार करता है। यदि वह उन्हें आदर और प्रेमको दृष्टिसे देखता है, उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है तो समझना चाहिए कि वह अपने चरित्रको सुधार रहा है। दूसरेके साथ व्यवहार करनेसे दूसरोंको भी हर्ष होता है और स्वयं अपनेको भी। इसमें कुछ खर्च भी नहीं होता।

(स्माइल्स)

बम्बईमें भारतजैनमहामण्डल ।

पाठकोंको इस मण्डलका विशेष पारिचय देनेकी आवश्यकता नहीं। यह सबसे पहली जैनसंस्था है जो दिगम्बर-श्वेताम्बर और स्थानकवासी इन तीनों सम्प्रदायोंको समान दृष्टिसे देखती है और तीनोंका समानरूपसे हित चाहती है। इसका यह उद्देश्य बहुत ही विशाल है और इस कारण इसके प्रति हमारी पूर्ण सहानुभूति है। हम चाहते हैं कि हमारे उक्त तीनों सम्प्रदायोंमें जो पारस्परिक द्वेष बढ़ रहा है उसको शमन करनेका यश इस मण्डलको मिले, इसके प्रयत्नसे तीनों सम्प्रदाय एकताके सूत्रमें बँध जाएँ और जैनजाति अपनी उन्नति करनेमें समर्थ हो।

इस मण्डलको स्थापित हुए १६ वर्ष हो चुके। पहले इसका नाम जैनयंगमेन्सएसोसियेशन था जो पीछे कई विशेष कारणोंसे बदल दिया गया और अब यह आल इंडिया जैन एसोसियेशन या भारतजैनमहामण्डलके नामसे अभिहित होता है। पहले इसमें दिगम्बरसम्प्रदायके ही नवयुवक शामिल थे और उन्होंने इसे स्थापित किया था; परन्तु अब इसमें तीनों सम्प्रदायके शिक्षित-विशेष करके अँगरेजी पढ़े हुए-योग देने लगे हैं।

जैनसमाजमें अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगोंकी संख्या कम नहीं है। तीनों सम्प्रदायोंमें हम समझते हैं कि ग्रेज्युएट और अंडर ग्रेज्युएटोंकी ही संख्या ५०० के लगभग होगी। मंडलके मेम्बर ही दोसौ से अधिक बतलाये जाते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि मण्डलका कार्य बहुत ही

मन्दगतिसे-प्रायः नहींके ही बराबर चल रहा है। अँगरेजी जैनगजट और जीवदयाविभागके ट्रैक्टोंको छोड़कर और कोई काम ऐसा नहीं है जिससे मण्डलके अस्तित्वका भी पता लग सके। अपनी १६ वर्षकी लम्बी आयुमें हम देखते हैं कि उसने कोई भी उल्लेखयोग्य कार्य नहीं किया है। और तो क्या उसके अधिवेशन भी प्रतिवर्ष नहीं हो सकते हैं। बम्बईका यह अधिवेशन भी कई वर्षोंके बाद हुआ है। शिक्षित कहलानेवालोंकी इतनी बड़ी-‘महा’-नामधारिणी संस्थाकी यह अलसता और अकर्मण्यता देखकर बड़ा खेद होता है और जैनजातिका निराशामय भविष्य और भी गाढ़ अंधकारसे व्याप्त दिखलाई देता है।

अबकी बार महामण्डलका अधिवेशन देखनेका सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ। बम्बईमें कांग्रेस आदि महती सभाओंकी धूमधामके कारण मण्डलने अपना अधिवेशन भी इसी मौकेपर कर डालना निश्चय किया। तदनुसार ता० ३० और ३१ दिसंबरको यहाँके एम्पायर थियेटरके सुन्दर भवनमें मण्डलकी दो बैठकें हो गईं। सभापतिका आसन श्रीयुक्त सुशालदास बी. ए. बी. एस. सी. बैरिस्टर एट-लाने सुशोभित किया था और स्वागतकारिणीके सभापति श्रीयुत मकनजी जूठा बैरिस्टर हुए थे।

हम पहले कह चुके हैं कि महामण्डलके प्रति हमारी पूर्ण सहानुभूति है और हम उसकी हृदयसे उन्नति चाहते हैं; परन्तु सहानुभूतिका मतलब यह नहीं है कि हम उसकी प्रशंसा ही किये

जायँ । नहीं; सहानुभूतिके कारण उसके दोषों-की आलोचना करना भी हम अपना कर्तव्य समझते हैं । अतः इस लेखमें हम मण्डलकी उन बातोंकी आलोचना करना चाहते हैं जिन पर ध्यान देना उसके संचालकोंके लिए बहुत आवश्यक है ।

बम्बईमें तीनों सम्प्रदायोंके जैनोंकी संख्या ३० हजारसे भी अधिक समझी जाती है । इनके सिवाय इस समय कांग्रेस आदिके कारण बाहरसे भी सैकड़ों सज्जन आये हुए थे । ऐसी अवस्थामें मण्डलके अधिवेशनमें ७००-८०० से अधिक आदमियोंकी उपस्थिति न होना बतलाता है कि मण्डलकी जनसाधारणमें बहुत ही कम प्रसिद्धि है । अपने १६ वर्षके लम्बे समयमें वह अपनी प्रसिद्धि भी जैसी चाहिए वैसी नहीं कर सका है । उसके उद्देश्य लोगोंका समझाये नहीं जाते हैं, इस कारण लोगोंका उसकी ओर प्रेमभाव नहीं है । श्वेताम्बर और स्थानकवासी भाई तो उससे बहुत ही कम परिचित हैं । अच्छे अच्छे शिक्षित भी उसके विषयमें बहुत कम जानकारी रखते हैं । हम मानते हैं कि इसमें लोगोंकी उदासीनता, अज्ञानता और साम्प्रदायिक द्वेष भी कारण हैं, तो भी मण्डलके कार्यकर्ता अपने प्रयत्नकी शिथिलताके दोषसे नहीं बच सकते । वे चाहते तो अपने अधिवेशनमें लोगोंकी संख्या इससे अधिक एकत्रित कर सकते थे ।

महामण्डलके इस अधिवेशनके कार्यकर्ताओंमें कानून जाननेवाले वकील बैरिष्ठोंकी संख्या खूब थी, तो भी इसमें बे-कानूनी कार्रवाइयाँ इतनी हुई हैं जितनी साधारण लोगोंकी सभाओंमें भी नहीं होती हैं । मण्डलका यह एक वार्षिक अधिवेशन था—इसमें प्रतिनिधि—तत्त्व

बिलकुल नहीं था—बाहरसे प्रतिनिधि भी नहीं बुलाये गये थे, तो भी कानूनके आचार्योंने इसे सारे भारतके जैनोंकी कान्फरेंसका रूप दे दिया, स्वागतकारिणी कमेटी बनाई गई और जिनका मण्डलसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं था, ऐसे लोगोंकी सब्जैकटकमेटी बनाई गई । वास्तवमें उसमें मण्डलके मेम्बरोंको छोड़कर दूसरे लोगोंको 'बोट' देनेका अधिकार ही न होना चाहिए था । इस सब्जैकटकमेटीकी बैठकमें जो तमाशे हुए, शिक्षितोंकी जो लीलायें देखनेमें आईं वैसी तो शायद ही कहीं दिखलाई दें ।

मण्डलके कार्यकर्ताओंने जैनहितेच्छुके सम्पादक श्रीयुक्त बाडीलालजीको एक पत्र लिखा था । उसमें उन्होंने बम्बईमें अधिवेशन करनेकी इच्छा प्रकट की थी और लिखा था कि जेलमें बिना अपराधके कष्ट भोगनेवाले पं० अर्जुनलालजी सेठी बी. ए. के विषयमें खास तौरसे इस अधिवेशनमें विचार किया जायगा । श्रीयुक्त बाडीलालजी आजकल ऐसे कामोंसे कुछ उदास रहते हैं; परन्तु सेठीजीके लिए कुछ उद्योग होगा और उन्हें न्याय मिलेगा इस ख्यालसे उन्होंने मण्डलके कार्यमें योग देना स्वीकार किया । इसके बाद उन्हें सभापतिका चुनाव करनेके लिए लिखा गया और उन्होंने सेठीजीके कार्यकी महत्ता समझकर मि० खुशालदासशाहको इस कार्यके लिए सुयोग्य बतलाया और मि० शाहके उत्साहपूर्वक स्वीकार करनेपर कार्यकर्ताओंको स्वीकारता भेज दी । श्रीयुक्त बाडीलालजीने समझा था कि मि० शाह जैसे विद्वान् हैं वैसे ही विचारक और साहसी भी हैं; परन्तु उनका यह समझना केवल भ्रम था । सब्जैकटकमेटीमें जब सेठीजीका प्रस्ताव उपस्थित किया गया, तब मि० शाहने स्वयं उसे पढ़कर सुना दिया और न जाने क्या समझकर

कह दिया कि इस प्रस्तावको सभाके समक्ष उपस्थित करनेके लिए कोई तैयार नहीं होता है, इस कारण यह रद्द किया जाता है। इस पर श्रीयुत बाडीलालजीने कहा—“ यह बिलकुल झूठ है। प्रस्ताव उपास्थित करनेके लिए अमुक महाशय—जो कानूनके आचार्य हैं—तैयार हैं, और यह सभापतिको तथा दूसरे अगुओंको मालूम है। फिर मालूम नहीं, यह प्रस्ताव क्यों रद्द किया जाता है। ” इस पर सभापतिने और कई बहाने पेश किये; परन्तु जब उन सबका उचित उत्तर दिया गया, और दूसरा कोई अच्छा बहाना न मिला, तब उन्हें कहना पड़ा कि “ थोड़े ही दिन पहले मुझे थोड़े समयके लिए एक सरकारी नौकरी मिली है, इसलिए मेरे सभापतित्वमें इस प्रस्तावको पास कराके क्या आप मुझे स्वधर्मीको हानि पहुँचाना पसन्द करते हैं?” इस पर बाडीलालजीने कहा कि, “सरकारी नौकरोंको डरनेकी तो इसमें कोई बात नहीं है। मि० अजितप्रसादजी आदि कई सरकारी नौकरोंने इस कार्यमें प्रकटरूपसे योग दिया है, यह सब जानते हैं। इसके सिवाय जब आरा और देहली—केसके फैसले हो चुके हैं और उनपरसे जब हमें कानून जाननेवाले विश्वास दिलाते हैं कि सेठीजी पर कोई भी अपराध साबित नहीं हो सकता है, तब, एक जैनकी दृष्टिसे नहीं तो एक मनुष्यकी ही दृष्टिसे और ब्रिटिश राज्यकी कीर्ति बढ़ानेके लिए, ‘सेठीजीका मुकद्दमा चलाया जाय और अपराध हो तो उन्हें उचित दण्ड दिया जाय, नहीं तो वे छोड़ दिये जायँ’ सरकारसे केवल इतनी सी प्रार्थना करनेका प्रस्ताव करना तो कुछ अनुचित नहीं है। और यदि अनुचित ही है, तो इसका विचार पहले ही हो जाना था। सभापति महाशय इस प्रस्तावके पहले-हीसे जानकार थे। उन्होंने उसी समय इसे रद्द

करनेकी सम्मति क्यों न दी, अथवा यही क्यों न कह दिया कि यदि तुम्हें प्रस्ताव पेश करना हो तो दूसरा सभापति ढूँढ़ लो ? बम्बई जैसे जैनों-से भरे हुए शहरमें यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि मण्डलके सभापति होनेके योग्य कोई पुरुष मिलता ही नहीं। यदि इस बातका इशारा पहले ही कर दिया गया होता, तो यह बात इतनी बढ़ती ही नहीं; पर खैर अब भी एक उपाय है जिससे सारी कठिनाईयाँ दूर हो सकती हैं। कलकी बैठकमें अन्य सब प्रस्तावोंके पास हो चुकने पर सभापति महाशय सभास्थान छोड़कर चले जावें और हम लोग दूसरे सभापतिको नियत करके सेठीजीके प्रस्तावको पास कर डालें। ” यह उपाय सारी कमेटीको पसन्द आ गया; परन्तु सभापति महाशयने इसे नहीं माना, वे उसी समय स्तीफा देनेके लिए तैयार हो गये। उन्होंने सोचा कि मेरी इस धमकीसे शान्तिप्रिय जैन दब जायँगे और मुझे अपना पद त्याग करना न पड़ेगा। इस पर बड़ा शोरो गुल मचा, निदान श्रीयुत बाडीलालजीने दरखास्त पेश की कि इस विषयमें सब लोगोंके बोट लिये जायँ। बोट लिये गये जिनमें ३५ मत सेठीजीका प्रस्ताव पेश करनेके अनुकूल और ६ विरुद्ध रहे और तब सभापतिको अपना पद छोड़ देना पड़ा। इसके बाद जो हुआ वह शायद अशिक्षितोंकी सभामें होता तो भी निन्दनीय समझा जाता। बाडीलालजीने अपनी दरखास्त वापस नहीं ली, तो भी एक महाशयकी प्रार्थनासे जिन्होंने कि सेठीजीके अनुकूल बोट दिया था—मि० खुशालदास फिर अपने छोड़े हुए पद पर आ बैठे और उन्होंने सेठीजीके प्रस्तावकी अपनी निर्दय कलमसे हत्या कर डाली ! लोग देखते ही रह गये।

सभापति महाशयका व्याख्यान, कहा जाता है कि बड़ी स्वतंत्रताके साथ हुआ और उसे लोगोंने बहुत पसन्द किया। इस व्याख्या-नमें साधुसम्प्रदायकी निन्दा करते हुए आपने कहा कि “जैनसाधु मेरे जूते उठानेके भी योग्य नहीं हैं।” यद्यपि पीछेसे कह दिया गया था कि ‘कितने ही साधु ऐसे हैं,’ तथापि यह कथन अज्ञानियोंको शान्त रखनेकी कलाके सिवाय और कुछ नहीं था। इवेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायमें साधुओंकी संख्या बहुत है और उनका समाज पर बड़ा प्रभाव है। ऐसे प्रभावशाली और पूज्य समझे जानेवाले समूहके विषयमें इतना खुला प्रहार करना बतलाता है कि सभापति महाशय बड़े स्पष्टवक्ता और साहसी हैं। व्याख्यान सुनकर हमारा भी यही ख्याल हुआ था; परन्तु रातकी सब्जैकट-कमेटीमें जब सेठीजीके प्रस्तावकी ऊपर लिखे अनुसार हत्या की गई, तब हमारा हृदय कह उठा कि क्या इसीको साहस कहते हैं? जो स्वयं बैरिस्टर हैं, जानते हैं कि सेठीजीके सम्बन्धमें कानूनके अनुसार प्रार्थना करनेका प्रस्ताव करना कोई अपराध नहीं है, जो इस प्रस्तावके करनेका वचन पहलेहीसे दे चुके थे, सारी सब्जैकट कमेटीने जिनसे इस प्रस्तावके लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना की थी, वे केवल इस तुच्छ ख्यालसे—कि कहीं सरकार मुझे अपसन्न न हो जाय—डर गये! उन्होंने वचन भंग किया, कानून तोड़ा, सब्जैकटकमेटीकी इच्छानुसार प्रस्ताव पेश करनेका कर्तव्य भुला दिया और सारे जैनोंकी आशाको धूलमें मिला दिया, क्या यह साहसका चिह्न है? बेचारे निरीह निष्कर्मा साधुओंपर तो सोटेकी जगह तलवार खींचना और सरकारके सामने उचित प्रार्थना—नम्र निवेदन—और वह भी हजारों जैनोंके साथ मिलकर—करनेके

समय द्रुम दबाकर भाग जाना, यह क्या साहसी सिंहाँका काम है? शिक्षितोंमें इस प्रकारकी भीरुता और दुर्बलता देखकर बड़ी ही निराशा होती है।

मण्डलका आठवाँ प्रस्ताव यह था—“जैनसाहित्य और तत्त्वज्ञानका प्रकाश किया जाय और इस विषयमें कुमार देवेन्द्रप्रसादजीने जो प्रशंसनीय उद्योग किया है उसके लिए उन्हें धन्यवाद दिया जाय।” सब्जैकट कमेटीमें जब उक्त प्रस्ताव उपस्थित हुआ, तब अनावश्यक बतलाकर इसका विरोध किया गया और वह रद्द कर दिया गया। इसके बाद दो तीन बार फिर भी इसकी चर्चा उठाई गई, परन्तु फल कुछ न हुआ—कमेटीके सामने ही प्रस्तावोंकी सूचीमेंसे उक्त प्रस्ताव अलग कर दिया गया। इतना होने पर भी दूसरे दिन जो छपी हुई प्रस्तावमालिका वितरण की गई, उसमें उक्त प्रस्ताव मौजूद था और उसके अनुमोदकोंमें श्रीयुक्त बाडीलालजीका नाम छपा हुआ था! बाडीलालजीने सभामें उपस्थित हो कर कहा—“मुझे बड़े अफसोसके साथ कहना पड़ता है कि यह प्रस्ताव कानूनके विरुद्ध पेश किया गया है और मुझसे पूछे विना ही इसके अनुमोदकोंमें मेरा नाम दे दिया गया है। यद्यपि साहित्यसम्बन्धी प्रत्येक प्रस्तावका मैं हृदयसे अनुमोदक हूँ; परन्तु कानूनके विरुद्ध कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है। शिक्षितोंकी सभामें ये अशिक्षितोंके समान कार्यवाइयाँ होते देखकर मुझे बड़ा ही दुःख होता है।” हमारी समझमें यह नहीं आया कि जब साहित्यप्रकाशकोंको उत्तेजन देनेका ही प्रस्ताव करना था तब उसमें केवल एक ही संस्थाकी या एक ही व्यक्तिकी प्रशंसा क्यों की गई? क्या देशभरमें और कोई भी संस्था या पुरुष साहित्यकी सेवा करनेवाला नहीं है? काशीकी यशोविजय ग्रन्थमाला, भाव-

नगरकी जैनधर्मप्रसारक सभा, बम्बईका देव-चन्द लालचन्द पुस्तकोद्धार फण्ड, काशीकी जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, निर्णयसागर प्रेस, आदि संस्थाओंने क्या जैनसाहित्यकी कुछ कम सेवा की है, जो उनका नामोल्लेख भी न किया गया और दो चार पुस्तकें छपाने-वालोंकी प्रशंसा की गई? हम बाबू देवेन्द्र-प्रसादजीके उद्योगकी स्वयं प्रशंसा करते हैं और उनके कार्यको प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं; परन्तु नये नये और अल्प कार्यके लिए तो खास प्रस्ताव किया जाय और दूसरे बहुत समयसे काम करनेवालोंको भुला दिया जाय, साथ ही सब्जैकट कमेटीकी आँखोंमें धूल डाली जाय, इसे हम कदापि अच्छा नहीं कह सकते।

हमारे समाजके शिक्षित पुरुषोंकी सभी लीलायें निराली हैं। वे सेवा तो करना चाहते हैं जैन समाजकी—जिसमें हजार पीछे पाँच आदमी भी अँगरेजी नहीं समझ सकते हैं—पर काम करते हैं सात समुद्र पारकी अँगरेजी भाषाके द्वारा! इस विषयमें वे अपने निजत्वको बिलकुल ही भुला बैठे हैं। उन्हें अपनी मातृभाषामें बोलना लज्जाकर प्रतीत होता है और यही कारण है जो उनके द्वारा कुछ भी उल्लेख योग्य कार्य नहीं होता है। मण्डलकी सब्जैकटकमेटीका और सभाका कामकाज अँगरेजीमें ही हुआ था। प्रारंभसे ही मेम्बरोंकी ओरसे हिन्दी या गुजरातीमें काम करनेकी बारवार प्रार्थना की गई; परन्तु उस पर कुछ भी लक्ष्य नहीं दिया गया। पहले दिनकी बैठकका प्रायः सारा काम काज अँगरेजीमें हुआ जिसे देखकर बड़ा ही अफसोस हुआ। उपास्थित ७००-८०० आदमियोंमेंसे अधिकसे अधिक १०० पुरुष ऐसे होंगे जो अँगरेजीको अच्छी तरह समझते हों, शेष लोग अपने शिक्षितोंकी

यह नाटक देखते हुए बड़े धैर्यके साथ अन्ततक बैठे रहे! उस दिन कई सज्जनोंकी ओरसे जब बहुत ही जोर दिया गया तब दूसरे दिनकी सभामें गुजराती हिन्दीकी कुछ सुनाई हुई। बम्बईकी पचरंगी प्रजाके सामने माननीय पं० मदनमोहन मालवीय जैसे अँगरेजीके सुवक्ताने तो अभी उस दिन हिन्दीमें व्याख्यान दिया जिसमें हिन्दू यूनीवर्सिटीके चन्देके काममें अच्छी सफलता प्राप्त हुई; परन्तु हमारे जैनशिक्षितोंने अपने गुजराती-हिन्दीभाषाभाषी भाइयोंकी सभामें अँगरेजी भाषामें ही बोलना पसन्द किया! जहाँ स्वभाषा और स्वजातिकी इतनी अवहेलना की जाती है, वहाँ सफलताकी आशा रखना व्यर्थ है!

इस लेखको समाप्त करनेके पहले, मण्डलने अपने इस अधिवेशनमें क्या क्या कार्य किये उन पर हम एक साधारण नजर डाल जाना चाहते हैं।

पहला दिन तो सभापतिके व्याख्यानमें और मण्डलकी रिपोर्ट सुनानेमें समाप्त हो गया जिसका एक भी शब्द साधारण लोगोंकी समझमें न आया। रातका २॥ बजे तकका समय सब्जैकट कमेटीमें गया और सो भी लाभके बदले हानिके व्यापारमें! दूसरे दिन ४ घंटेमें सब मिलाकर १० प्रस्ताव और व्याख्यान हुए! राजभक्ति और ब्रिटिश-जयकी प्रार्थना, स्वर्गस्थ जैनोंके विषयमें शोकप्रदर्शन, शिक्षाप्रचारके लिए विद्वानोंकी एक कान्फरेंस होनेकी सूचना, शिक्षासम्बन्धी और अन्य सरकारी रिपोर्टोंमें जैनोंका जुदा खाना रखनेकी प्रार्थना, तीनों सम्प्रदायोंमें एकता रखनेकी सलाह, कुरीतियाँ दूर करनेकी सलाह, जैनसाहित्यप्रचारकी सलाह, और सभापतिके प्रति कृतज्ञताप्रकाश। दशवाँ प्रस्ताव कार्यरूप था जिसमें जैनोंकी

संख्या कम होनेके कारणोंपर विचार करनेके लिए एक कमेटी बना दी गई ।

इतना काम काज करनेके बाद यह सुसभ्य नाटक मण्डली अपना खेल समाप्त करके विदा हो गई । नाटक कम्पनियोंको प्रजाके चरित्रके सुधारने बिगड़नेकी चिन्ता बहुत ही कम होती है, लोगोंका मनोरंजन करनेपर ही वे अधिक ध्यान रखती हैं । इसी तरह मण्डलके एक्टरोंने भी एक बातकी परवा किये बिना कि समाज-हितकी और समाजकी सहानुभूतिकी रक्षा होती है या नहीं, अपना छह घंटेका खेल समाप्त कर डाला ! हमारे यहाँ इस तरहके अल्पसंतोषी लोगोंकी कमी नहीं है जो कहते हैं कि चाहे जो हुआ पर भारतजैनमहामण्डल का अधिवेशन तो निर्विघ्नताके साथ हो गया ! परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो हमारा ध्येय अधिवेशन करना ही नहीं है, काम करना है, और वह नहीं हुआ । सेठीजीके प्रस्तावको रद्द करके मण्डलने अपनी अकर्मण्यताको और भी असह्य बना डाला ! हमारी समझमें हमें किसी व्यक्तिके मरने जीनेकी परवा कम करना चाहिए, परन्तु सिद्धान्त या प्रिन्सिपलकी रक्षाके लिए बूब दृढ रहना चाहिए । विश्वमें अनन्त जीव

हैं, केवल मनुष्योंकी ही संख्या कई अरब है; ऐसी अवस्थामें एक सेठीजीका या भारतजैन-महामण्डलका जीना मरना हर्ष या खेदका विषय नहीं बन सकता; परन्तु जब सेठीजीको बचानेका प्रयत्न करना हमारे लिए ' इष्ट ' है—कर्तव्य है—हमारे जीवनमरणका प्रश्न है तब इसके लिए एक भारतजैनमहामण्डल तो क्या सारा जैन समाज ही यदि ख्वार हो जाय हमें परवा न करना चाहिए और अपने प्रयत्नमें लगे रहना चाहिए । मनुष्योंका—और विशेषतः उन लोगोंका जो जडवादी नहीं हैं—लक्ष्य बिन्दु लाभ—अलाभ या सुख दुःख नहीं किन्तु उच्चाशय, कर्तव्य, प्रगति और आत्मविजय होना चाहिए । अभीतक हम आशा कर रहे थे कि यद्यपि हमारी जातिके पुराने स्व्यालोंके अगुओंमें आत्म—तेज नहीं है और उनसे कुछ होने जाने वाला नहीं है, परन्तु शिक्षितजनोंका ध्यान तो समाजकी ओर जा रहा है, अतः वे इस कमीको पूरा कर देंगे, किन्तु आज हमारी वह आशा निराशामें परिणत हो गई—हमारा स्वप्न-भंग हो गया—हम आँसू मलते हुए उठकर देखते हैं कि—

पूर्वकी महत्ता सचमुच ही अदृश्य हो गई है ।

जैनहितैषी ।

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग,
डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे,
सभी जैर्नियोंका हितैषी हितैषी ॥